श्रीगीतातात्पर्य

प्रणेता

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य

संपादन: **डॉ. रामाधार शर्मा** और **नित्यानन्द मिश्र**

श्रीगीतातात्पर्य

प्रणेता

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण षड्दर्शनपरमप्रवीण सनातनधर्मसंरक्षणधुरीण

धर्मचक्रवर्ती महामहोपाध्याय वाचस्पति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वर

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य

सम्पादक

डॉ. रामाधार शर्मा एवं नित्यानन्द मिश्र

प्रकाशक

श्रीतुलसीपीठ सेवा न्यास

चित्रकूट, सतना जनपद, मध्य प्रदेश, भारत

प्रथम संस्करण

गीता-जयन्ती, विक्रम २०४२

(२२ दिसम्बर १९८५ ई०)

द्वितीय (संगणकीय) संस्करण

गीता-जयन्ती, विक्रम २०७०

(१३ दिसम्बर २०१३ ई०)

© सर्वाधिकार

प्रणेता के अधीन

पुस्तकप्राप्तिस्थान

http://www.jagadgururambhadracharya.org

अक्षरसंयोजक

नित्यानन्द मिश्र

Typeset in XeLaTeX using XeTeX engine version 0.9998.

This book uses an adaptation of the Sanskrit 2003 TrueType font.

अनुक्रमणिका

समर्पणम् १

सम्पादकीय ३

सम्पादकीय (प्रथम संस्करण) ७

प्रशंसा ९

नान्दीवाक् १५

स्वधन से प्रार्थना १७

प्राक्कथन १९

१ प्रथम उन्मेष २१

२ द्वितीय उन्मेष ७१

३ तृतीय उन्मेष १२३

उपसंहार श्लोक १४३

सङ्केताक्षरसूची १४५

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

समर्पणम्

कृष्णाय कृष्णमहसे महतां महिम्ने
कारुण्यसाररसमञ्जुमरीचये च।
तस्मै समर्पितमिदं विचकास्तु पुष्पं
गीतात्मने भगवते बृहते विभूम्ने॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सम्पादकीय

गौरश्यामवपुर्धरौ द्विजवरौ शास्त्रार्थदौ गोपती
गोपालौ ललितोर्ध्वपुण्ड्रलसितौ काषायपीताम्बरौ।
दिव्याक्षौ शुकदेवगीतमहितौ मन्दस्मितौ सत्प्रियौ
गीतावक्तृजगद्गुरू गिरिधरौ वन्दावहे वैष्णवौ॥

क्रमशः गौर और श्याम शरीर धारण करने वाले, द्विजों (ब्राह्मणों) में श्रेष्ठ और द्विजों (द्वा सुपर्णा वेदमन्त्र में वर्णित पक्षियों) में वरीय परमात्मा, शास्त्र के अर्थ (सिद्धान्त) और शास्त्र के उद्देश्य (भक्ति) को देने वाले, गोपदवाच्य वाणी के स्वामी (वाचस्पति) और गोपदवाच्य इन्द्रियों के स्वामी (हृषीकेश), पूर्वजन्म के ग्वाले (यथा – त्रेता में बानर भए द्वापर में गोबाल) और गौओं की रक्षा करने वाले, ललित ऊर्ध्व पुण्ड्र से सुशोभित, गेरुआ और पीला वस्त्र धारण करने वाले, दिव्याक्ष अर्थात् प्रज्ञाचक्षु और दिव्याक्ष अर्थात् दिव्य नेत्र वाले, शुकदेव द्वारा गीत श्रीमद्भागवतजी जिनके द्वारा सम्मानित हैं और शुकदेव के गीत श्रीमद्भागवत द्वारा सम्मानित, मन्द हास वाले, सन्त जिनके प्रिय हैं और सन्तों को प्रिय, गीता पर प्रवचन करने वाले जगद्गुरु और गीता के वक्ता जगत् के पिता – ऐसे गिरिधर कवि (गुरुदेव) और गिरिधर भगवान् (श्रीकृष्ण) का हम दोनों वैष्णव वन्दन करते हैं।

यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीताजी सनातनधर्म की प्राणभूत प्रस्थानत्रयी में ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों के साथ सुशोभित हैं, परन्तु प्रस्थानत्रयी में भी श्रीरामाभिन्न परब्रह्म श्रीकृष्ण के द्वारा स्वयं गाई जाने के कारण इनका विशेष महत्त्व है। श्रीमद्भगवद्गीता पर अनेकों भाषाओं में सहस्त्रों भाष्य और टीकाएँ उपलब्ध हैं। गीताजी पर कुछ विशिष्ट तात्पर्यनिर्णयग्रन्थ भी रचे गए हैं, जिनमें द्वैतसम्प्रदायप्रवर्तक श्रीमध्वाचार्य का संस्कृत ग्रन्थ गीतातात्पर्यनिर्णयः द्रष्टव्य है। तथापि यह श्रीगीताजी का ही गौरव है कि अर्वाचीन काल में भी मनीषी, दार्शनिक, विद्वद्गण और सन्त इनके निर्वचन में प्रवृत्त होकर अपनी सरस्वती को धन्य करते रहे हैं।

गुरुदेव जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य द्वारा राष्ट्रगिरा में प्रणीत निबन्ध श्रीगीतातात्पर्य सर्वथा नवीन युक्तियों और भावों से युक्त है। इस ग्रन्थ में अपूर्व और अनुपम

शास्त्रीय तर्कों के आधार पर गुरुदेव ने ईश्वर-शरणागति को ही श्रीगीताजी का तात्पर्य सिद्ध किया है। यह निबन्ध प्राचीन मीमांसकों की छः प्रमाणों से युक्त तात्पर्यनिर्णय की पटुता से अनुप्राणित होने के साथ-साथ वैयाकरणों की अविवाद शब्दार्थनिर्णयपद्धति, नैयायिकों और काणादों की अच्छेद्य तर्कशक्ति, वेदान्तियों के अशेष औपनिषद ज्ञान, भक्तों के अदूष्य समर्पणभाव तथा अनुपेक्ष्य साक्ष्य, और ऋग्वेद से प्रारम्भ कर श्रीरामचरितमानस से होते हुए बीसवीं शताब्दी तक प्रणीत सनातनधर्म के अनेकानेक ग्रन्थों से लिये लगभग ६०० अमूल्य उद्धरणों से समलङ्कृत है। पाठकगण इस ग्रन्थ को पढ़ते हुए ऋतम्भराप्रज्ञाचक्षु गुरुदेव के अथाह शास्त्रीय चिन्तन के साथ-साथ भक्तशिरोमणि गिरिधरकवि के भावातिरेक का अनुभव करेंगे। जहाँ एक ओर संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् ग्रन्थ के अनुशीलन से लाभान्वित होंगे, वहीं दूसरी ओर रामानन्दी विशिष्टाद्वैत संप्रदाय के अनुयायी और श्रीकृष्णभक्त इस ग्रन्थ के पठन से विशेषतः आह्लादित होंगे। आज इक्कीसवीं सदी में भी गीताजी पर बोलने वाले और लिखने वाले बहुत हैं, परन्तु उनके विषय में भीमसेनशास्त्रीजी की यह उक्ति –

अक्षरार्थपराः सर्वे विमुखा भाववर्णनात्।
वृथाऽनपेक्षं जल्पन्तः पाण्डित्यमदगर्विताः॥

(ल०सि०कौ०भै०टी० मङ्गलाचरण ४)

अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत निबन्ध गीतारूप स्वाति-सलिल के साधक रूप चातकों के लिये गुरुदेव रूप मेघमाला द्वारा बरसाए हुए अमृतवाणी रूपी प्राणदायक जल के समान सिद्ध होगा।

इस लघुकाय परन्तु गुरूपाय निबन्ध का प्रणयन गुरुदेव ने अट्ठाईस वर्ष पूर्व संवत् २०४२ में किया था, जब वे प्रज्ञाचक्षु आचार्य रामभद्रदास नाम से सुविख्यात थे। पुस्तक के प्रथम संस्करण का विमोचन गीता-जयन्ती के पुण्यपर्व पर २२ दिसम्बर १९८५ ईस्वी को हुआ था। सभी २२०० प्रतियाँ शीघ्र ही पाठकों द्वारा अपना ली गईं और कालान्तर में यह पुस्तक अप्राप्य हो गई। इसी बीच गुरुदेव जगद्गुरु रामानन्दाचार्य के सिंहासन पर अभिषिक्त होकर जगद्गुरु रामभद्राचार्य अभिधान से प्रसिद्ध हुए, और उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर लगभग १२०० पृष्ठों में संस्कृत और हिन्दी में विशद श्रीराघवकृपाभाष्य का प्रणयन किया। विस्तृत गीताभाष्य आने के पश्चात् पाठकगण श्रीगीतातात्पर्य को भूल-से गए। सौभाग्यवश गुरुदेव की रचित सभी पुस्तकों में मुद्रित की गईं ग्रन्थसूचियों में इस श्रीगीतातात्पर्य का उल्लेख होता रहा, जिससे यह ग्रन्थ हमारे संज्ञान में बहुत समय से था। जब इस वर्ष के प्रारम्भ में हमने गुरुदेव के पुराने ग्रन्थों को खोजने का प्रयास किया, तो श्रीगीतातात्पर्य ग्रन्थ गुरुदेव के सभी आश्रमों और श्रीराघवपरिवार के हमारे परिचित सदस्यों के संग्रहों में अप्राप्य था। फ़ेसबुक पर ग्रन्थ-विषयक विज्ञप्ति देने के बाद झाँसी-निवासी श्री शशांक वीरकर जी ने सहजता से

यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध कराया। श्री शशांक वीरकर जी के इस उपकार से हम आजीवन उनके अधमर्ण रहेंगे। कानपुर-निवासी श्री अजय वर्मा जी ने गुरुदेव के अनेकानेक ग्रन्थों का टङ्कण अतिशीघ्रसमय में करवाया है, इस ग्रन्थ का टङ्कण भी उन्हीं की नीलम प्रिण्टर्ज़ नामक प्रेस में हुआ। ग्रन्थ के लिपिपरिमार्जन (प्रूफ़रीडिङ्ग) में महनीय योगदान दिया है हापुड़-निवासी श्री मोहन गर्ग जी ने, जिनका निष्काम गुरुसेवा-भाव और जिनका दत्तचित्त एकाग्रता-संपन्न कार्यकौशल दुर्लभ ही नहीं, संभवतः अलभ्य है। मोहन गीता के दाता श्रीकृष्ण का ही मधुर नाम है और भागवतजी के दशम स्कन्ध के अष्टम अध्याय के अनुसार यदुवंश के राजपुरोहित महर्षि गर्ग हैं। कैसा अद्भुत संयोग है गर्ग वंशीय श्री मोहन ने ही इस ग्रन्थ का लिपिपरिमार्जन किया। ग्रन्थ के कई उद्धरणों के मूल स्रोत खोजने में भारतीयविद्वत्परिषद् के सदस्यों ने हमारी सहायता की है, हम उनके आभारी हैं। संपादन कार्य में हमारे परिवार के सदस्यों का सदा की तरह सहयोग रहा ही है।

अन्त में राघवसेवा, गोसेवा, विकलाङ्गसेवा, संतसेवा, समाजसेवा, और साहित्यसेवा में अहर्निश कार्यरत होते हुए भी अकारण करुणा करके ग्रन्थ के मुख्य अंशों को सुनकर, अनेक स्थलों पर कुछ और नए भाव जोड़कर और हम अकिञ्चनों की मूलपाठसंबन्धी अनेकानेक शङ्काओं का निवारण करके हमें धन्य करने वाले गुरुदेव के युगलपादपङ्कजों में हम नमन करते हैं। गुरुदेव की इस कृपा से प्रथम संस्करण का अध्ययन कर चुके पाठकों को इस द्वितीय संस्करण में कई नए भाव पढ़ने को मिलेंगे।

प्रस्तुत संस्करण में ९५ प्रतिशत से अधिक उद्धरणों के मूल स्रोत दिये गए हैं, फिर भी भारतीय वाङ्मय अपार है और तीसेक उद्धरणों का मूल खोजने में हम असमर्थ रहे हैं। प्रथम संस्करण की वर्तनी और व्याकरण की त्रुटियों को भी यथासंभव सुधारा गया है, फिर भी यदि संपादकों के प्रमाद के कारण इस संस्करण में त्रुटियाँ बच गई हों तो गिरिधर भगवान् श्रीकृष्ण और गिरिधर कवि गुरुदेव हमें क्षमा करने की कृपा करें, एवं सुधी पाठक हमें सूचित करने का अनुग्रह करें, इस प्रार्थना के साथ यह सारस्वत पुष्प पाठकों को समर्पित है।

द्विजवर गोपति पुण्ड्रधर दिव्यचक्षु गोपाल।
गीताबाचक बिश्वगुरु गिरिधर युगल कृपाल॥

इति निवेदयतः
वैष्णवानां वशंवदौ
डॉ. रामाधार शर्मा एवं नित्यानन्द मिश्र

गीता-जयन्ती, विक्रम २०७०

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सम्पादकीय (प्रथम संस्करण)

वन्दे वन्दितपादाब्जं वेत्रतोत्त्रधरं हरिम्।
गीतोपदेशकं कृष्णं शाश्वतं पार्थसारथिम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त वैदिक सिद्धान्तों का दर्पण है, यह बात सुधीजनों से अविदित नहीं है, सकल लोक हितार्थ परम कारुणिक भगवान् ने शोकमोहसमाकुल अर्जुन को निमित्त बनाकर इस परम गुह्यतम गीताशास्त्र का आविष्कार किया। तत् तत् सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी मनीषा के आधार पर इस शास्त्र को समझाने का प्रयास किया है। यद्यपि –

किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः।

(भा०पु०श्री०टी० १.१.१)

इस दृष्टि से भगवद्वाणी का यथातथ्येन अभिप्राय समझना भला किसके लिये संभव है? तथापि उन्हीं प्रभु की प्रेरणा से जिसको जो अर्थ स्फुरित होता है, उसी अर्थ को वह गीताजी के परिप्रेक्ष्य में प्रतिष्ठापित करता है। अद्यावधि गीताजी की सहस्त्रों टीकाएँ रची गईं एवं विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में गीताजी का अनुवाद उपलब्ध है।

गीताजी के तात्पर्य-निर्णय में प्रायशः आचार्य अपनी-अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार तत् तत् विचारधारायें प्रस्तुत करते रहे हैं पर आचार्य श्रीरामभद्रदासजी महाराज द्वारा जिन शास्त्रीय तथ्यों के आधार पर गीताजी में शरणागतितात्पर्य को निश्चित किया गया है वे सर्वथा अनुपम एवं अद्भुत है। इस लेख में आचार्यश्री के गहन शास्त्रज्ञान को देखकर विद्वानों का मनोमयूर एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता का अनुभव करेगा।

आचार्यश्री की शास्त्र-चिन्तन-पद्धति अपने ढंग की निराली, नवीन एवं बड़ी ही मौलिक है। जिसका अवलोकन पाठक लोग ग्रन्थ में ही करेंगे।

परम भावुकता, भगवद्भक्ति एवं प्रतिभा से सजाया हुआ यह लेख सुधीजनों के हृदय का हार बनेगा। हम इसी आशा के साथ इस पुस्तकपुष्प को गीताप्रेमी पाठकगणों के समक्ष उपस्थित करते हुए अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

आचार्यश्री का श्रीराघव साहित्य प्रकाशन निधि ट्रस्ट परम आभार मानता है कि जिन्होंने ट्रस्ट को अपनी अदूष्यवैदुष्यपूर्ण श्रीगीतातात्पर्य नामक यह पुस्तक प्रकाशित करने का स्वर्णिम सेवा-सौभाग्य दिया है।

निवेदिका

कु० गीता बहन
प्रबन्धन्यासी
श्री राघव साहित्य प्रकाशन निधि
श्रीगीता आश्रम
भक्तिनगर सोसायटी, राजकोट ३६० ००२, गुजरात

भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा
दि० १५-८-८५

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

प्रशंसा

आगामी पृष्ठों में श्रीगीतातात्पर्य पुस्तक की प्रशंसा में पाँच संतों के वचन प्रस्तुत हैं, जिन्हें प्रथम संस्करण से लिया गया है। इन्हें पढ़ते समय पाठकों को ध्यान रहे कि संवत् २०४२ में गुरुदेव रामानन्दी विरक्त साधु थे और जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पद पर अभिषिक्त नहीं हुए थे। ये प्रशंसा वचन गुरुदेव के दादा-गुरु श्रीगङ्गादासजी महाराज, गुरुदेव के सद्गुरु श्रीरामचरण-दासजी फलाहारी महाराज, और तीन सम्प्रदायों के जगद्गुरुओं – जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीशिवरामाचार्यजी, जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी, और जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वतीजी – द्वारा पढ़े गए हैं। साथ-ही-साथ प्रथम संस्करण का नान्दीवाक् गुरुदेव के व्याकरण-गुरु अभिनवपाणिनि श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी द्वारा प्रणीत है। इन सब वचनों को पढ़ने के पश्चात् पाठकगण स्वयं यह अनुमान लगा सकते हैं कि जगद्गुरु रामानन्दाचार्य के पद पर आसीन होने से पहले भी गुरुदेव की सरस्वती का भारतवर्ष के अग्रगण्य संतों और तलस्पर्शी विद्वानों में कितना अधिक सम्मान था।

सम्पादक

॥ जगद्गुरु श्रीस्वामी श्रीरामानन्दाचार्य ॥

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा
हिन्दूधर्मोद्धारक जगद्गुरुश्रीविभूषितसार्वभौम यतिराजचक्रचूडामणि
श्रीमठकाशीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य

श्रीशिवरामाचार्यजी महाराज

चण्डांशुवंशसरसीरुहचित्रभानुं भूनन्दिनीनयनचारुचकोरचन्द्रम्।
साकेतकेतझषकेतनिकेतरूपं सीतापतिं शरणमेमि सदैव रामम्॥
नमोऽस्त्वाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तनपरपरभागधेयायै।
श्रीरामप्रियायै भगवत्यै जगज्जनन्यै श्रीसीतायै॥

श्रीरामानन्दसम्प्रदायानुगामिना श्रीवैष्णवेनाऽचार्यपण्डितरामभद्रदासेन विद्वल्लालम्ना सकलशास्त्रार्थसमनुशीलनपुरःसरं समुपनिबद्धं वेदसिद्धान्तनवनीतश्रीगीतामनुसृत्य श्रीगीतातात्पर्याभिधेयनिबन्धं सावधानं कृतचित्तैकतानं श्रावं श्रावं सहृदय-द्रावमपरिमितमानन्दमन्वभूदास्माकीनं चेतः।

विदुषाऽनेन निबन्धस्य प्रथमोन्मेष उपक्रमोपसंहारादिषड्लिङ्गप्रस्तावनापूर्वकं यदश्रुत-पूर्वरहस्यं समुद्घाटितं तन्नूनमेतस्य शास्त्रवैलक्षण्यं प्रमाणयति। पण्डितमनोमण्डनं तत्स्मारं स्मारं प्रकामं प्रसीदामः। द्वितीयोन्मेषे श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रत्यध्यायं श्रीमत्परमेश्वर-शरणागतिसङ्गतिविधा साधोरेतस्य गम्भीरशास्त्रपाण्डित्यं प्रकाशयति। तृतीयोन्मेष आचार्य-शङ्करस्वीकृतसर्वकर्मसंन्यासतारूपतात्पर्यनिरसनं तिलकादिमतानाञ्च युक्तियुक्तसमालोचनं क्वचित्क्वचिच्चमत्कारपूर्णानामर्थानां स्फोरणमिदं सर्वं निरवद्यम्।

अहमेतन्निबन्धपुष्पमेतत्प्रणेतारं रामभद्रदासञ्च शुभाषीराशिभिः संवर्ध्यैतदामोदेन श्रीवैष्णवरोलम्बानां विशिष्टाद्वैतवादस्य च श्रीः समेधतामिति समभ्यर्थये जानकीजानिभगवन्तं श्रीरामचन्द्रम्।

इत्याशास्ते
जगद्गुरू रामानन्दाचार्यः स्वामिशिवरामाचार्यः

आर-२२/९९ पञ्चगङ्गाघाट, वाराणसी २२१००१
दिनाङ्क २७-११-८५
(कार्तिकशुक्लपूर्णिमा, विक्रमसंवत् २०४२)

॥ श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः ॥

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्य चक्रचूडामणि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र द्वैताद्वैतप्रवर्तक
यतिपतिदिनेश राजराजेन्द्रसमभ्यर्चितचरणकमल भगवन्निम्बार्काचार्यपीठविराजित
अनन्तानन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्री''श्रीजी''

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज

निगमागमशास्त्रमर्मज्ञैः श्रीमद्भिर्गिरिधरमिश्रापरनामधेयैः श्रीरामभद्रदास-महानुभावैर्लिखितं शरणागतिप्रतिपादकं श्रीगीतातात्पर्यम् इत्यभिधानं निबन्धात्मकं पुस्तकमिदं सनातनधर्मसंरक्षणाय प्रभविष्यतीति भगवाञ्छ्रीसर्वेश्वरो मुहुर्मुहुरभ्यर्थ्यते।

जगद्गुरुः श्रीनिम्बार्काचार्यः
श्री''श्रीजी''श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यः

अखिलभारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, श्रीनिम्बार्कतीर्थ
सलेमाबाद-किशनगढ़ (अजमेर), राजस्थान
दिनाङ्क २८-११-८५
(मार्गशीर्षकृष्णप्रतिपत्, विक्रमसंवत् २०४२)

॥ श्रीहरिः ॥

अनन्तश्रीविभूषित श्रीजगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर द्वारकापीठाधीश्वर
ज्योतिर्मठ (बदरिकाश्रम) हिमालय एवं पश्चिमाम्नाय द्वारकाशारदापीठ

श्रीस्वामी स्वरूपानन्दसरस्वतीजी महाराज

॥ समनुमोदनम्॥

पण्डितश्रीगिरिधरमिश्रप्रज्ञाचक्षुर्महोदयैः प्रणीतं श्रीगीतातात्पर्यम् इति नामधेयं पुस्तकं पूज्यतमैः श्रीजगद्गुरुवर्यैः कर्णगोचरमकारि।

श्रीमिश्रवर्यद्वारा राम इति पदस्य रा शब्देन रामायणं म इति शब्देन महाभारतमित्याकारकः समन्वयः शोभनः। एकस्मिन् स्थले यद्गीता योगशास्त्रं रामायणं प्रयोगशास्त्रमथ च श्रीरामायणं मर्यादापुरुषोत्तमस्य रामभद्रस्य शिक्षाग्रन्थः श्रीगीता भगवती च लीलापुरुषोत्तमस्य गोपालनन्दनजगद्गुरोः श्रीवासुदेवस्य दीक्षाग्रन्थ इत्यादिकं सुयुक्तिकं विवेचनमिति निश्चप्रचन्नु।

तात्पर्यनिर्णय आर्षग्रन्थवदुपक्रमोपसंहारादिषड्लिङ्गशरण्यां शरणागत्यामेव तात्पर्यं वस्तुतः सर्वतन्त्रसिद्धान्तस्तत्र वैमत्यानवसरः।

श्रीपादा आमोदमुदिता अभूवन्। श्रीमिश्रवर्याः सर्वशास्त्राणां योगज्ञा भूयासुरिति पूज्यतमानां जगद्गुरुशङ्कराचार्यवर्याणां शुभाशिषः प्रदीयन्ते समोदमिति शम्।

श्रीमत्पूज्यपदानामादेशैः
विदुषां वशंवदो
द्विवेदो रविशङ्करः
ज्योतिष्पीठपण्डितः

सञ्चारयात्रास्थान – चातुर्मास्यप्रसङ्ग
श्रीपञ्चनाथमहादेवमन्दिरम्
राजकोट (सौराष्ट्र)
अनन्तचतुर्दश्याम्
(धाताख्ये वैक्रमे २०४०तमेऽब्दे)

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

॥ श्रीरामाय नमः ॥

महन्त श्रीस्वामी १०८

श्रीगङ्गादासजी महाराज

मैंने अपने नाती-चेला आचार्य पण्डित रामभद्रदास द्वारा गुम्फित श्रीगीतातात्पर्य निबन्ध को सिंहावलोकनन्यायेन सानन्द सुना। श्रीरामानन्द सम्प्रदाय की परम्परा एवं विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की मर्यादा के अनुसार सर्वशास्त्रसम्मत रहस्य का प्रतिपादन अपने में बड़ा ही अनोखा एवं अनूठा है।

मैं परम प्रसन्न मन से रामभद्रदास की शास्त्र-सम्पत्ति एवं भगवत्प्रपत्ति के लिये प्रभु श्रीराम से प्रार्थना करता हूँ।

इत्याशास्ते

गङ्गादासः

छोटा छत्ता मठ, पुरी (ओरिस्सा)

(वर्तमान – अयोध्या मणिरामछावनी)

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम्।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः॥

श्री श्री रामचरणदासजी फलाहारी महाराज

अहं परमप्रियशिष्यस्य रामभद्रदासस्य प्रज्ञाचक्षुषो वैष्णवसिद्धान्तमयं श्रीगीतातात्पर्य-नामकं निबन्धं दृष्टवाऽतिप्रसन्नो भवामि। अनेन शरणागतिरहस्यप्रकाशेनानेकेषामास्तिक-जनानां हृदयान्धकारो गमिष्यतीति विश्वसन् रामभद्रदासमनेकैराशीर्वादैः सल्लाँलयामि।

इत्याशास्ते
श्रीवैष्णववशंवदः
रामचरणदासः
(फलाहारी बाबा)
फलाहारी बाबा आश्रम, अरैल
प्रयागराज (उ.प्र.)

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

नान्दीवाक्

भारतीयदर्शनेष्वात्मबोधपयस्विनी निबिडकलुषक्षालनपटुव्युपनिषद्गङ्गा प्रकाशयन्ती सततमविच्छिन्नधारया प्रवहमाणा चकास्ति। तत्रापि श्रीमद्भगवद्गीताया अमृत-धारा कर्मोपासनाज्ञानाख्यकाण्डत्रितयविलसितवेदराशेः सारतत्त्वं प्रसारयन्ती जगत्यामात्मालोकपुष्पाण्यजस्रं प्रवाहयन्ती राराज्यते।

भगवद्गीताया अष्टादशेष्वध्यायेष्वादिमेऽध्यायषट्के कर्मकाण्डस्य मध्यमेऽध्यायषट्क उपासनाकाण्डस्यान्तिमेऽध्यायषट्के ज्ञानकाण्डस्य निरूपणं भगवता श्रीकृष्णेनातिशय-मनोहारिण्या स्पृहणीयशैल्या कृतमस्ति।

वेदास्तु भगवतो निःश्वासभूताः। ते तु यस्यां कस्यां वाऽवस्थायां भगवतः सकाशादाविर्भवन्ति परन्तु भगवद्गीता प्रसन्नचेतसा भगवता प्रोक्तेति विशेषः। प्रहसन्निव तमुवाच (भ०गी० २.१०)। तत्र धर्मक्षेत्रे (भ०गी० १.१) इति शब्देनोपक्रान्ता सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६) इत्येवमुपसंहृता भगवद्गीता सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्याद्वितीयतत्त्वनिश्चायने स्वीयं तात्पर्यमादधातीति व्याचक्षते बहवो महात्मानो गीताहार्दिकरहस्यविदः। परन्तु श्रीगीतातात्पर्याभिधानं निबन्धं प्रणेतुः श्रीरामचन्द्रचारुचरणारविन्दनिषेवणचातुरीसमुल्लसितान्तःकरणस्य श्रीरामभद्रदास्य किमप्यनितरसाधारणं हार्दिकं तात्पर्यं प्रतिभाति। यच्च –

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(भा०पु० १.७.१०)

इति श्रीमद्भागवतोक्त्या प्रमितमस्ति। अथ च –

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वातन्त्र्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
हठेन केनापि वयं शठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

इति यतिसम्राट्मधुसूदनसरस्वतीस्वामिनाऽपि समर्थितमस्ति।

अनेन स्पष्टं प्रतीयते यदद्वैतभावनानिष्णाता अपि जीवन्मुक्ता महात्मानो भजनीयतया

भगवन्तं शरणमभिलषन्तो जीवनं धारयन्ति। अन्ते च सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६) इत्यस्योपसंहारवाक्यस्येदमेव तात्पर्यं यच्छरणागति-व्यतिरिक्तान् सर्वधर्मान् परित्यज्यैनं धर्मं समाद्रियस्व। अयं हि परमो धर्मः। अपि त्वेतत्प्राप्तावन्येषामुपायभूतधर्माणां सेवयाऽलम्। सूर्यालोके प्राप्ते सति दीपादीनामालोकस्य काऽऽवश्यकता।

अस्त्वनया लोककल्याणकारिण्या कृत्या प्रसीदस्वान्तेन मया शुभाशीर्वचोभिः श्रीरामभद्रदासः सर्वथा संयोज्यते यदीदृशे श्लाघ्ये कार्यसम्पादने तदीया विमला मतिः सर्वदा संलग्ना भूयाद्येनेतोऽप्यधिकतमो लोकोपकारो भूयात्।

शुभाशंसी
रामप्रसादत्रिपाठी
व्याकरणविभागाध्यक्षचरः
सं०सं०वि०वि० वाराणसी
दि० २५-११-८५

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

स्वधन से प्रार्थना

दुरीश्वरद्वारबहिर्विवर्तिदीकादुरासिकायै रचितोऽयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति मे धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम्॥

(वै०प० ४)

पार्थसारथे प्रगतहित नटवर करुणाकन्द।
रामभद्रदासं सपदि पालय कृष्ण मुकुन्द॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

प्राक्कथन

स जयति यदुकुलजलनिधिविधुरविधुर्जनपद्मपत्रकाणाम्।
वनकरिकलभमिवार्तं गीताम्भः पाययन् पार्थम्॥
जयति जगति जगदीश्वरविधुमुखगीता पुनीतनवनीता।
वैदिकगुणसंवीता मातैवं शाश्वती गीता॥

अनादिकालीन पापवासना से मलीमस-मस्तिष्क एवं कुसङ्गवश अपने श्रीचरणारविन्द से विमुख घोर रौरवी यातना से यन्त्रित जीवों पर करुणावशंवद होकर परम कारुणिक, पुण्डरीकनयन, षडैश्वर्यसम्पन्न, योगेश्वरेश्वर, भगवान् श्रीकृष्ण ने रणभूमि में शोकसमाकुल अर्जुन को निमित्त बनाकर सकल वेदार्थ-भूत श्रीगीताशास्त्र का अवतरण किया, जो समस्त भारतीय आस्तिक दर्शनों की जन्मभूमि है। किं बहुना, अद्यावधि समस्त प्राच्य-प्रतीच्य विचारकों के विचारमीन श्रीगीतागङ्गोदक से ही अनुप्राणित हैं।

भारतवर्ष अनेक विचार एवं बहुविध चिन्तन सरणियों का समन्वय रूप है। इसी दृष्टि से श्रीगीताजी के तात्पर्य निश्चय में विचारकों में मतैक्य नहीं रहा है। किसी ने गीताजी का तात्पर्य केवल ज्ञान में निश्चित किया, तो किसी ने केवल कर्मयोग में, किसी ने श्रीगीताजी में क्रान्ति का दर्शन किया तो किसी ने शान्ति का। किन्तु तात्पर्यनिर्णयार्थ मीमांसादर्शन में निदर्शित छः प्रमाणों की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण सुधीजन पूर्वोक्त किसी भी पक्ष को तात्पर्य के रूप में नहीं स्वीकारते।

वस्तुतस्तु श्रीगीताजी का परम तात्पर्य शरणागति में है, कारण कि यह पक्ष उपरिचर्चित मीमांसा के छहों प्रमाणों की कसौटी पर सर्वतोभावेन खरा उतरता है। इसी शास्त्रीय आधाररूप सम्बल को पाकर मुझ जैसे अकिञ्चन को भी इस दुर्गम पथ पर चलने का उत्साह हुआ।

अनेकानेक श्रद्धालु विचारकों, मनीषियों एवं आचार्यकल्प वैष्णव सन्त महात्माओं के निर्देश एवं संदेश भी मुझे समय-समय पर साक्षात् तथा परम्परा से प्राप्त होते रहे हैं।

अन्ततोगत्वा श्रीमद्राघवेन्द्र सरकार की कृपा से मेरे शुभेच्छुजनों की शुभकामनाएँ विजयिनी बनीं तथा मेरे ही प्रमाद का पराभव हुआ एवं प्रभु के प्रसाद तथा श्रीगुरुजनों के आशीर्वाद से मैं इस वाङ्मयी सेवा में प्रवृत्त हुआ।

इस लघुकाय निबन्ध में यथासाध्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में ही विचारों को उपस्थित किया गया है। निबन्ध के पूर्वार्ध में उपक्रमोपसंहारादि छहों प्रमाणों को गीताजी के प्रतिपाद्य-सङ्गत करके उत्तरार्ध में गीताजी के प्रत्येक अध्याय में स्पष्टतः उल्लिखित शरणागति के सिद्धान्तों का स्वरसतः दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रस्तुत लेख में यदि किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो उसे मेरे मानवीय बुद्धिजन्य दोषों का ही परिणाम समझना चाहिये। इस निबन्ध में यत्किञ्चित् विशिष्टता है वह सब श्रीगुरुचरणों के कृपा-कटाक्ष का प्रसाद है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस श्रीगीतातात्पर्य लेख का अनुशीलन कर समस्त सुधीसज्जन जनार्दन की शरणागति-माधुरी-मन्दाकिनी में निमज्जन कर अपने को कृतकृत्य करेंगे। मैं अपने प्रथम शिष्य प्रो० डॉ० रामदेव प्रसाद सिंह को बहुशः आशीर्वाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि के संशोधन में साधीयसी भूमिका निभाई। अन्त में श्रीराघव साहित्य प्रकाशन निधि की मैनेजिंग ट्रस्टी परम भागवत स्वनामधन्या भारतीय वाङ्मय की प्रकाण्ड विदुषी सुश्री गीतादेवीजी की अविस्मरणीय राघव साहित्य-सेवाओं के प्रति कोटिशः श्रद्धावनत साधुवाद ज्ञापित करता हूँ जिनके श्रीराघवसमर्पित जीवन के बहुमूल्य केन्द्रबिन्दुओं से जुड़ी हुई यह पुस्तक भक्तजनों को आह्लादित कर सकेगी।

श्रीराघवः शन्तनोतु।

श्रीराघव कुटीर
आमोद वन, जानकी कुण्ड
चित्रकूट (सतना) म०प्र०
राघवीय
रामभद्रदासः
चित्रकूट

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

प्रथम उन्मेष

मङ्गलाचरण

वन्दे वन्दारुवृन्दारकाङ्घ्रिपं पाथसां पतिम्।
साधूनामिव रत्नानां रामं दाशरथिं हरिम्॥
नागभोगार्पिताम्भोजपदं ब्रह्मपदं पदम्।
श्रेयसां श्रेयसे नौमि श्रीकृष्णं कृष्णसारथिम्॥
नत्वा गुरुञ्च गोविन्दं सानन्दं वितनोम्यहम्।
गीतातात्पर्यनामानं निबन्धं प्रीतये हरेः॥

अचिन्त्यगुणगणनिलय, परिकलितभक्तप्रणय, सदयहृदय, सर्वसर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान, भगवान्, सीताभिराम, श्रीरामभद्रजू के सहज निःश्वास ही वेद हैं। यथा यस्य निःश्वसितं वेदाः (ऋ०वे०सं०सा०भा०उ०प्र० २)। अपि च –

जाकी सहज श्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥

(रा०च०मा० १.२०४.५)

इन्हें हम अपौरुषेय कहते हैं, अर्थात् इनकी रचना परमपुरुष परमात्मा ने भी नहीं की, ये तो उनके सहज श्वास हैं। भाव यह है कि परमात्मा के साथ इनकी अनादिता एवं नित्यता तथा सहचारिता सिद्ध है, जैसे प्राणी की सत्ता के साथ ही प्राणभूत श्वास की सत्ता। ये ही भगवान् वेद समस्त आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत हैं। समस्त परोक्ष सिद्धान्तों में इन्हीं का प्रामाण्य स्वीकारा गया है – वेदाः प्रमाणम् । सनातन धर्म तो इन्हीं का उपजीव्य है। इनकी निन्दा करने पर स्वयं नवमावतार बुद्ध भगवान् को भी त्याज्य मानने में सनातनधर्मावलम्बी कभी नहीं हिचकिचाता। यथा –

अतुलित महिमा वेद की तुलसी कीन्ह विचार।
जो निन्दत निन्दित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

(दो० ४६४)

ये भगवान् वेद भी निरन्तर आलस्य रहित होकर सर्वशरण्य परमेश्वर के भुवनपावन यशोवर्णन से अपने को कृतार्थ करते रहते हैं। इन्हीं को गोस्वामीजी ने संसारसागर का

जहाज माना है –

बन्दउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुवर बिशद जस॥

(रा०च०मा० १.१४ ङ)

अपि च – सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (क०उ० १.२.१५) – सभी वेद जिस अद्वितीय पद का आमनन करते रहते हैं। इन्हीं वेदों के सिद्धान्तों को संक्षेप रूप में क्रमबद्ध कर अतिसीकुसुमोपेयकान्ति, अकारणकरुणावरुणालय, देवकीनन्दन, धनञ्जयस्यन्दनभूषण, अचिन्त्यगुणगणसम्पन्न, प्रपन्नपारिजात, वारिजातनयन, योगेश्वर, पार्थसारथि, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने रणभूमि में शोकसमाकुल किङ्कर्तव्यविमूढ़, निजपदकमलप्रपन्न, विनयसम्पन्न धनञ्जय को लक्ष्य करके सुनाया जिसे हम श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से जानते हैं।

सात सौ श्लोकों में ही इस नटनागर ने गागर में सागर की भाँति समस्त वेदार्थ को भर दिया। श्रीवृन्दावन में मुरली को माध्यम बनाकर मुरलीमनोहर ने वेणुगीत द्वारा यदि गोपियों के हृदय में परमप्रेमसुधा का संचार किया, तो धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में गीतागान के द्वारा निराशावादी अर्जुन के भी हृदय में सुमति-सुधा का प्रसार किया।

एक ओर सर्वयोगेश्वर ने दृप्त शरणागत गोपियों में प्रेमपिपासा का आविर्भाव किया तो दूसरी ओर जगद्गुरु ने आर्त शरणागत अर्जुन के भी हृदय में तत्त्वज्ञान-जिज्ञासा का प्रादुर्भाव किया।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामभद्र के रूप में परमपिता परमेश्वर ने अपने सर्वलोकानुकरणीय आदर्शों द्वारा सांसारिक जनों को वेदार्थ की शिक्षा दी एवं उन्हीं शरणागतभक्तवत्सल ने पुष्टिपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में आविर्भूत होकर पार्थ के व्याज से भुवनमङ्गल गीताज्ञान को प्रस्तुत कर कर्तव्यभ्रष्ट प्राणियों को वेदार्थ की दीक्षा दी। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि श्रीरामायण राघव का शिक्षाग्रन्थ है तो श्रीगीता माधव का दीक्षा ग्रन्थ है। एक ओर वेदार्थ को प्रभु ने प्रयोग में ढाला तो दूसरी ओर योग में। श्रीरामायण मानवजीवन की प्रयोगशाला है तो श्रीगीता योगशाला है। श्रीरामायण प्रयोगशास्त्र है तो श्रीगीता योगशास्त्र। अतः गीताजी के प्रत्येक अध्याय के अन्त में योगशास्त्रे इस पद का दिव्य संकेत है।

यह गीता विश्वसाहित्य में सबसे विशाल महाकाव्य महाभारत महासागर का एक बहुमूल्य माणिक्य है, जो महाभारत सकलभुवनचालक, भक्तप्रतिपालक, परमकारुणिक, पुण्डरीकाक्ष, परमपिता परमेश्वर के ही विश्वश्रेयस्कर दिव्यगुणों का रत्नाकर है। वेद, रामायण, पुराण एवं महाभारत में आद्यन्त सर्वत्र परमप्रभु परमात्मा का ही दिव्य यशोगान किया गया है। यथा –

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

(क०पु० २१.३७)

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

(रा०च०मा० ७.६१.६)

किं बहुना, राम शब्द की ही व्याख्या रामायण तथा महाभारत है। राकार से रामायण तथा मकार से महाभारत –

राद्रामायणं गेयं मान्महाभारतं तथा।

(इति मम)

यह महाभारत वेद मन्त्रों की संख्या के अनुसार ही एक लक्ष श्लोकों में निबद्ध है, जिसमें व्यासदेव की प्रतिज्ञा है कि यन्नभारते तन्नभारते अर्थात् जो महाभारत में नहीं है, वह भारतवर्ष में नहीं है। यदि राकार के व्याख्यानभूत रामायण ने वेद के पूर्वमीमांसा रूप अर्थ को श्रीरामचरितगान द्वारा स्पष्ट किया है, तो मकार के व्याख्यानरूप महाभारत ने श्यामचरित द्वारा वेद के उत्तरमीमांसारूप अर्थ को सुस्पष्ट किया है। इसी महाभारत रूप परमसरस सरसिज का परमपावन परिमलपूर्ण मकरन्द है श्रीमद्भगवद्गीता। अतः इसमें भी प्रभु के ही मङ्गलमय यशोरस का प्राकट्य निर्विवाद अवगन्तव्य है। परमकारुणिक भगवान् ने अपने वात्सल्य गुण का प्राकट्य कर इस वेदसुधा-क्षीरसागर-सारसर्वस्वरूप गीता-रस को पिलाकर परमप्रिय परम भागवत श्रीअर्जुन को अमृतत्व प्रदान किया। कहा भी गया है –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

(वै०त०सा०गी०मा० १०)

अहो! क्या ही मनोज्ञ वात्सल्य की झाँकी है पार्थसारथि सरकार की। जैसे मानव का स्वभाव दुस्त्यज होता है, तद्वत् मानवीय चेष्टाओं के अनुकर्ता प्रभु भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ पाते। बाल्यकाल में इनका गोदोहन स्वभाव रहा है। गोपाल एवं गोपियों की दृष्टि बचाकर यह छगनमगन छबीला गोपालनन्दन कन्हैया बछड़ों का बन्धन खोलकर दूध पिला देता। यथा –

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः।

मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्॥

(भा०पु० १०.८.२९)

आज वह लीलाबिहारी वृन्दावन से द्वारका पधारे, यह स्वभाव कैसे जाय? गोदोहन के पूर्वाभ्यास ने वासुदेव को विवश कर दिया। पहले व्रज में वर्तमान बहुत से कर्तव्यमूढ़ जीवरूप बछड़ों को संसार के बन्धन से मुक्त कर उन्हें अपने प्रेमरूप दूध को पिलाकर कृतकृत्य किया था, अब कुरुजङ्गल में भटकते हुए धर्मसंमूढचेता अर्जुनरूप बछड़े पर वात्सल्य की दृष्टि पड़ी और झट अपनी कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। उपनिषदों को ही गाय बनाया और उनसे दुहकर गीतामृतरूप दुग्ध को चुचकार एवं दुलार कर पार्थवत्स को पिला ही तो दिया।

यहाँ ध्यान रहे कि व्रज के गोवत्सों से अर्जुनरूप बछड़े की परिस्थिति कुछ विलक्षण है। वे तो बन्धन से मुक्त होकर स्वयं पी लेते हैं। अतः उनके लिये केवल बन्धन-मुक्ति ही करणीय थी। अतः भागवतकार ने केवल मुञ्चन् शब्द का ही प्रयोग किया न तु पाययन् । पर अर्जुन रूप बछड़ा तो विषाद रूप रोग से ग्रस्त है, इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकी हैं, मुख सूख रहा है, शरीर में कम्पन तथा रोमाञ्च हो रहा है, यह सर्वथा स्वयं बन्धन से मुक्त होने पर भी दुग्ध पीने में असमर्थ है –

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥

(भ०गी० १.२९)

जबकि कितना मङ्गलमय साहचर्य है – साक्षात् विश्वभावन पतितपावन भगवान् ही सारथि बनकर जिसकी जीवनयात्रा को पूर्ण कराने में सशक्त सहयोग दे रहे हैं। अतः अर्जुनरूप बछड़े की इस विडम्बना को देखकर पुनः गोपालोचित अभ्यास को स्वीकार कर प्रयास से उपनिषद् रूप गौओं को दुहा एवं अपनी वाणीरूप ढरकी (बाँस की पुपली) द्वारा कर्णकुहरों को माध्यम बनाकर धीरे-धीरे पिलाया, क्योंकि इस बछड़े की रसनेन्द्रिय में इस अलौकिक वेदरस के ग्रहण का सामर्थ्य नहीं था। कारण कि अन्य रसों की भाँति इस रस का अभिव्यञ्जक जलतत्त्व नहीं अपितु शब्दतत्त्व है। अतः शब्दगुणकमाकाशम् (त०सं० १४) की दृष्टि से शब्दतत्त्वात्मक आकाशमहाभूतप्रधान कर्णेन्द्रिय को ही माध्यम बनाया। प्रभु स्वयं आकाशरूप ही हैं। यथा – विश्वाधारं गगनसदृशम् (वि०ध्या०)। इसलिये आकाशरूप साँवले सरकार कर्णाकाश के माध्यम से गीताज्ञानावतार ग्रहण कर अर्जुन के हृदयाकाश में स्वयं पधारे।

पाण्डववंश पर इनकी विशेष कृपा रही है। यदि बहन द्रौपदी की व्रीडा के समय प्रभु

ने अम्बरावतार धारण किया तो बहनोई अर्जुन की पीड़ा को दूर करने के लिये अम्बर को ही माध्यम बनाकर शब्दावतार स्वीकारा। यथा – गीता मे हृदयं पार्थ (वै०त०सा०गी०मा० ४४)।

इस ज्ञान को स्त्री संज्ञा देने में भी उनका विशिष्ट तात्पर्य है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार ज्ञान शब्द का पाठ नपुंसकलिङ्ग में है – ज्ञानम् , ज्ञाने, ज्ञानानि। अर्थात् इसमें पुरुषार्थ-शून्यता है। भाव यह कि इस ज्ञान से व्यक्ति निष्क्रिय हो सकता है। जिसका प्रभु ने क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ (भ०गी० २.३) कहकर विरोध किया। अत एव इसे स्त्री संज्ञा देकर क्रियाशक्ति-सम्पन्न दिव्य ज्ञानरूप से परिणत किया इस चतुरचक्रचूडामणि ने।

यह गीताज्ञान माता के समान वात्सल्य देकर मुमूर्षु व्यक्ति को जिजीविषु बना देता है। गीता शब्द स्त्रीवाचक है, अतः गीताज्ञान का परमतात्पर्य है शरणागति-ज्ञान में। सौभाग्य से शरणागति शब्द भी स्त्रीलिङ्ग में ही अभिहित है। गीता में प्रभु ने अर्जुन को ज्ञानामृत पिलाकर मरणभय से मुक्त किया है, अतः बार-बार अमृतत्व की ही चर्चा की है – सोऽमृतत्वाय कल्पते (भ०गी० २.१५) अमृतस्याव्ययस्य च (भ०गी० १४.२७) इत्यादि। शरणागत व्यक्ति ही मरणभय से मुक्त होता है यह भी स्पष्ट है, क्योंकि मरणापन्न व्यक्ति ही पश्चात् शरणापन्न होता है। परम नीच मारीच भी मरुमरीचिका की चकाचौंध में अपने को विस्मृत किये बैठा था, परन्तु श्रीराघव की कृपा से उसके भी जीवन में एक वर्षा की बहार आई। ग्रीष्म गया, मरुमरीचिका समाप्त हुई। रावण ने कपटमृग बनने का अनुरोध किया –

होहु कपटमृग तुम छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी॥

(रा०च०मा० ३.२५.२)

मारीच के मन में एक आश्चर्य-बिन्दु था। वह सोचने लगा कि मृग स्वयं मरुमरीचिका में भूला हुआ रहता है तो वह अन्य को कैसे भुलावे में डाल सकेगा। इसलिये यह कहकर उसने अपनी असमर्थता प्रकट की कि –

जो नर तात तदपि अति शूरा। तिनहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥

(रा०च०मा० ३.२५.८)

किन्तु रावण नहीं समझ सका इस गम्भीर भाव को। उसने अपना चन्द्रहास खड्ग उठाकर चन्द्रहास से समुल्लसित श्रीराघव की ही शरणागति के लिये मारीच को प्रेरित किया। फिर –

उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकिसि रघुनायक सरना॥

(रा०च०मा० ३.२६.५)

भाव यह कि ईश्वर-शरणागति ही जीव को मुक्त कर सकती है, तस्मात् गीता-ज्ञान रूप शरणागति-रहस्य समझाकर प्रभु ने मुमूर्षु अर्जुन को जिजीविषु बना दिया। अतः समस्त-

वेदार्थभूत गीता अपना परम तात्पर्य एकमात्र शरणागति में ही रखती हैं। इसमें किसी भी सहृदय सुधी को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

मरणभय से त्रस्त जो अर्जुन युद्ध को मरण का जन्मदाता मानकर कह रहे थे – न योत्स्ये (भ०गी० २.९) – युद्ध नहीं करूँगा, वही गीतोपदेश के अन्त में शरणागति-सुधा से अमरत्व प्राप्त करके निःसंदेह कह पड़े – करिष्ये वचनं तव (भ०गी० १८.७३)। हे यादवेन्द्र सरकार! मैं आपके वचनों का पालन करूँगा। क्योंकि शरणागति-रहस्य-सुधा पिलाकर आपने मुझे मरणभय से मुक्त किया अब मुझे युद्ध में भी मरण नहीं दिखता। तव वचनं करिष्ये यह वाक्य कितना सारगर्भित है। प्रभु! मुझे पूर्ण विश्वास हो चुका है कि आप अपने शरणागत को अशुभकर्म में नहीं नियुक्त करते। अब तक अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण के वचन घोर कर्मों के प्रेरक प्रतीत होते थे। तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक में उन्होंने साक्षेप कहा –

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

(भ०गी० ३.१)

हे जर्नादन! यदि कर्मों की अपेक्षा आपको ज्ञान की श्रेष्ठता अभिमत है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? केशव शब्द के सम्बोधन में भी उनका एक मधुर व्यङ्ग्य था। प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्येति केशवः याने जिसके पास सुन्दर घने केश हों। अर्जुन व्यङ्ग्य में यह कह रहे थे कि सरकार! जैसे आपको घने केश प्रिय हैं वैसे ही आप मुझे घने क्लिष्ट कर्मों में प्रविष्ट करा रहे हैं। पर आज प्रभु के प्रति उनका महाविश्वासपूर्वक समर्पण जागृत हुआ, जिसे हम शरणागति कहते हैं।

वैष्णवाचार्यों ने अनन्यसाध्य अर्थात् अन्य द्वारा न सिद्ध होने वाले अपने परम इष्ट के प्रति महाविश्वासपूर्वक, अपने शरण्य के द्वारा ही सिद्धि की कामना से सर्वसर्वेश्वर समस्त प्राणियों के आधाररूप परमात्मा के परम पवित्र पादारविन्द में सर्वतोभावेन सर्वस्व-समर्पण को ही शरणागति माना है –

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः॥

(द०वि०हे०नि० १०५)

जब साधक को ऐसा प्रतीत होने लगे कि उसका अभीष्ट अब किसी के भी द्वारा साध्य नहीं हो सकता, एवं उसकी रक्षा अब किसी से भी कथमपि सम्भव नहीं, इसलिये उसकी समस्त समस्याओं का समाधान एकमात्र अशरणशरण प्रभु के पादारविन्द ही कर सकेंगे, तब इसी महाविश्वास रूप विश्वास से निःश्वसित मरणभयातुर वह जीव प्रभु की शरण में आ जाता

है। तभी उसका जीवन समस्या रूप मेघमाला से उन्मुक्त होकर शारदशर्वरीसार्वभौम चन्द्र की भाँति दिव्य, रसमय एवं ज्योतिष्मान् हो उठता है।

भगवान् वेद ने भी शरणागति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है – मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये (श्वे०उ० ६.१८)। तो उन वेदों की तात्पर्यरूप गीताजी शरणागति की प्रशंसा क्यों न करेंगी? अतः गीताजी में प्रारम्भ से अन्त तक शरणागति-प्रशंसा की ही भरमार है।

अर्जुन को यह दृढ़ विश्वास हो चुका है कि उनके अभीष्ट का परिष्कार भगवान् के बिना किसी से संभव नहीं है। यथा, अर्जुन कह रहे हैं –

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

(भ०गी० ६.३९)

हे कृष्ण! मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से छेदन करने के लिये आप ही समर्थ हैं, क्योंकि आपके अतिरिक्त इस संशय के छेदन में अन्य किसी का सामर्थ्य संभव नहीं है।

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

(भ०गी० २.७)

माधव! आपके चरणप्रपन्न मुझ शिष्य को अब अधिक क्लेश सह्य नहीं है, मुझे उचितमार्ग के लिये अनुशासन दें। यहाँ शाधि क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शासुँ अनुशिष्टौ (धा०पा० १०७५) इस धातु से लोट् लकार के मध्यमपुरुष के एकवचन में यह रूप निष्पन्न होता है। यहाँ लोट् च (पा०सू० ३.३.१६२) इस सूत्र से प्रार्थना अर्थ में लोट् लकार का प्रयोग हुआ है। अतः रामानुजाचार्य कहते हैं कि इत्यतिमात्रकृपणो भगवत्पादाम्बुजमुपससार (भ०गी०रा०भा० २.७)। यह समर्पण कितना महत्त्वपूर्ण है।

शाधि मां त्वां प्रपन्नम् इस वाक्यखण्ड ने न केवल अर्जुन को अपितु भगवत्प्रपन्नमात्र को कृतकृत्य कर दिया। प्रभु की कृपा-कादम्बिनी बरस पड़ी, एवं बह चली गीतागङ्गा श्रीकृष्णचन्द्र रूप अखण्ड हिमाचल से। निर्णय देते हुए प्रभुने अनुशासन दिया –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(भ०गी० १८.६६)

अहो! भगवच्छरणागति से पहले अर्जुन में जो कार्पण्यदोष था वही दूषणं भूषणायते (का०मी० १८.१०५) की दृष्टि से परमेश्वर-शरणागति के पश्चात् गुणरूप में परिवर्तित हो गया तथा उनके मुख से सहसा यह महासंकल्प प्रस्फुटित हो उठा करिष्ये वचनं तव (भ०गी० १८.७३)। यहाँ करिष्यामि न कहकर करिष्ये इस आत्मनेपदी क्रिया कहने का यह तात्पर्य है

कि अब मैं आपके आदेश से जो कुछ करूँगा वह सब मेरे हित में ही होगा। अतः अब मुझे ननु न च करने का कोई अधिकार नहीं है।

भगवच्चरणारविन्द में समर्पित भक्त का जीवन वस्तुतः बड़ा ही रसमय होता है। सुना जाता है कि एक बार गोपियों ने आक्षेपपूर्वक वंशी से पूछा – मुरलिके! तू सारहीन बाँसवृक्ष की एक टुकड़ी है, तुझे बार-बार जलाकर सात छिद्रों से युक्त किया गया, भीतर से तू पोली है, ऊपरसे कटी-पिटी, अत्यन्त अल्प है तेरा शरीर, फिर भी तू नन्दनन्दन को इतनी क्यों भाती है कि तेरे बिना एक क्षण भी उन्हें चैन नहीं पड़ता। यथा –

होके सारहीन वंशवृक्ष के सकल भूत निष्फल निरञ्जन को कैसे तू रिझाती है।
भीतर से पोली दग्ध पावक से होकर भी औरों को विदग्धता का मन्त्र भी सिखाती है।
स्वयं सात छिद्रमयी भाती अछिद्र को तू नीरसों में स्वररस मन्दाकिनी बहाती है।
वंशी कहु हेतु याते कीन्हे बस गिरिधर को तेरे बिन क्षण भरि न चैन आती है॥

हिन्दी के रीतिकालीन महाकवि बिहारी ने इस प्रसंग को बड़ी ही रोचक पद्धति से लिखा है। एक बार श्रीकृष्णचन्द्रजी से वार्तालाप के लोभवश राधारानी ने मुरली छिपाकर रख दी। वे गिड़गिड़ाकर माँगते तो वे बाँसुरी को कभी सामने कर लेतीं एवं भृकुटि के माध्यम से प्रभु का परिहास करतीं तथा श्यामसुन्दर को मुरली देने का आश्वासन देकर अँगूठा दिखाकर नट जाती थीं –

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हसै दैन कहै नटि जाय॥

(बि०स० ३५६)

श्रीमद्भागवत में भी गोपियों ने यही पूछा कि इस बाँसुरी ने ऐसा कौन अपूर्व तप किया है जो कि गोपियों के द्वारा भोग्य मनमोहन के अधरसुधारस को एकान्त में पीती रहती है। यथा –

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
ह्रष्यत्त्वचोऽश्रुमुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥

(भा०पु० १०.२१.९)

वंशी ने उत्तर दिया – मुझमें कोई गुण नहीं, कोई क्रिया नहीं, कोई गति नहीं, पर इतना अवश्य है कि भगवान् श्यामसुन्दर जिस प्रकार बजाना चाहते हैं, मैं उसी प्रकार बिना आग्रह के बज जाती हूँ। मेरी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता या इच्छा नहीं, प्रभु की सत्ता ही मेरा अस्तित्व है, अतः मैं उन्हें प्रिय हूँ।

ठीक यही परिस्थिति पाण्डववंशवर्धन महारथी अर्जुन की है। इन्होंने अपने जीवन रूप रथ की बागडोर श्यामसुन्दर के करकमल में सौंप दी है, इसलिये वे निश्चिन्तता से सांसारिक द्वन्द्व रूप संग्राम में विजयी बन सके और प्रभु के मुखचन्द्रविनिर्गत गीतारहस्यपीयूष का पान कर सदा के लिये अमर हो गए, विश्व के इतिहास धरातल में।

किसी भी आर्षग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय में छः वस्तुओं का बोध होना नितान्त आवश्यक होता है। यथा –

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

(१) उपक्रमोपसंहार (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद एवं (६) उपपत्ति – ये छः प्रमाण आर्ष ग्रन्थों के तात्पर्य-निर्णय में परमापेक्षित हैं।

जिस विषयवस्तु से ग्रन्थ का प्रारम्भ हो उसे उपक्रम कहते हैं, उसी उपक्रान्त वस्तु का यदि ग्रन्थ के विश्राम स्थल में संकेत हो तो उपक्रमोपसंहार नाम का प्रमाण सिद्ध होगा। जिस तात्पर्य को उपक्रमोपसंहार में निर्दिष्ट किया गया है, यदि उसी का ग्रन्थ में बार-बार संकेत हो तो उसे अभ्यास कहते हैं। अन्य विषयों की अपेक्षा यदि इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध विषयवस्तु में कोई नवीनता हो तो उसे अपूर्वता कहेंगे। उपरितन प्रमाणत्रय से प्रतिपादित सिद्धान्त में किसी अलौकिक फल का होना भी अनिवार्य है। उस अभीष्ट विषयवस्तु के समर्थन में प्रशंसात्मक वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं। उक्त तात्पर्य के पोषण में जो एकतर पक्षपातिनी युक्तियाँ दी जाती हैं उन्हें उपपत्ति कहते हैं।

इन्हीं छः प्रमाणों की एकवाक्यता से हम किसी भी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय कर सकते हैं अर्थात् यदि उक्त छहों प्रमाण मिलित रूप से किसी एक ही प्रतिपाद्य विषय का समर्थन करें तो उसे ही हम तात्पर्य मानेंगे। जैसे श्रीमानस में प्रयुक्त हुए स्वान्तः शब्द का तात्पर्य स्वमन में पर्यवसित होता है। इसमें छहों प्रमाण एकवाक्यतापन्न हो जाते हैं। उपक्रम में स्वान्तःसुखाय (रा०च०मा० १/मङ्गलाचरण ७) तथा उपसंहार में स्वान्तस्तमःशान्तये (रा०च०मा० ७/उपसंहार १) शब्द का प्रयोग है। इसी विषय का मोरे मन प्रबोध जेहि होई (रा०च०मा० १.३१.२), तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत शठ मना (रा०च०मा० ५.६०.९) इत्यादि वचनों से ग्रन्थ में बार-बार अभ्यास किया गया है। अन्य ऋषियों ने सामान्य जीवों की मनःशुद्धि के लिये ग्रन्थों का प्रणयन किया पर गोस्वामिपाद ने श्रीरामचरितमानस को अपने मन की ही शुद्धि का साधन बनाया, यही इसमें अपूर्वता है।

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौ एहिं सर परई॥

(रा०च०मा० १.३५.८)

ये ही फल है।

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नहिं कछु आन अधार॥

(रा०च०मा० ६.१२१ख)

ये अर्थवाद है।

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। परसि कि होइ बिहीन समीरा॥

(रा०च०मा० ७.९०.७)

ये ही एकतर पक्षपातिनी युक्तिरूप उपपत्ति है। इस प्रकार प्रमाणानुसंधान से स्वान्तः पद का तात्पर्य अपना मन इसी अर्थ में सिद्ध हुआ।

तद्वत् श्रीगीताजी के भी तात्पर्य-निर्णय में इन छहों प्रमाणों को कसौटी रूप में देखना होगा। अपने मनमानी कपोल-कल्पित वाग्जाल से गीता जैसे परम आर्ष गन्थ का तात्पर्य नहीं स्पष्ट किया जा सकता। भारतीय चिन्तन में सबसे बड़ी विडम्बना का यही विषय रहा है कि प्रायः मनीषियों ने अपनी साम्प्रदायिक व्याख्या की ही पुष्टि में कहीं-कहीं शब्दों की खींचातानी कर श्रीगीताजी के तात्पर्य को अपने मतानुसार लगाने का बलात् प्रयास किया, इससे ग्रन्थ की वास्तविकता एवं विषय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कोसों दूर चली गई। भिन्न-भिन्न वेदान्तवादों की धाराओं के अनुसार गीताजी को तत् तत् वादों के परिप्रेक्ष्य में देखने की चेष्टा की जाती रही। अतः यह धर्मसंवाद विवाद का केन्द्र-सा बन गया।

राजनयिकों ने भी इसका उचित लाभ उठाया, तथा अपने-अपने विचारों के अनुसार इन गीताजी की व्याख्या की। आश्चर्य यह है कि सबने अपनी पूर्वाग्रहग्रस्तता को इनपर लादने का भरपूर प्रयास किया किन्तु इनके विचारों की अनसुनी-सी करी, अतः बुद्धेः फलमनाग्रहः (सु०र०भा०) आग्रह न रखना ही बुद्धि का फल है, इस सरणि से ही पक्षपातशून्य होकर गीताजी के तात्पर्य-निर्णय में अपनी भगवन्मण्डित मनीषा का उपयोग करना चाहिये।

श्रीगीताजी का परम तात्पर्य भगवच्छरणागति में ही है। यह विचार मेरा वैयक्तिक नहीं, अपितु गीताजी के शब्दों का अभिधेय अर्थ है। महर्षिगण एक करुण सुयोग्य अध्यापक की भाँति अपनी बात सरलता से समझाने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि अध्यापक का वैदुष्य-प्रदर्शन अनभिज्ञ शिष्य के लिये अरण्य-रोदन ही तो है। उसी प्रकार सांसारिक अज्ञानकूप में पड़े हुए अबोध प्राणियों के लिये ऋषियों का दुर्बोध शब्दजाल-विन्यास निष्फल होगा। इसीलिये आर्षग्रन्थों की भाषा बड़ी ही सरल एवं सुबोध होती है, जिससे सुगमता से सामान्य लोग भी उनके सभी विचारों से परिचित हो जाएँ।

प्रायः वाग्वैदुष्ययोग्यतादि के प्रदर्शन में वक्ता की प्रशंसा, शुश्रूषा एवं सम्मान की लिप्सा

छिपी रहती है। ऋषिवर्यों को इससे क्या पड़ी? वे तो अपने प्यारे प्रभु को रिझाकर संसार को दिशा-निर्देश देने के लिये सर्वसुलभ एवं सरल साहित्य की रचना करते हैं। यह मान्यता है ऋषियों की, तो परमपिता, सर्वहितैषी, सर्वेश्वर, करुणानिधान, परमात्मा का क्या कहना! जिनके मुखकमल का मकरन्द ही हैं श्रीगीता। अतः इनकी भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध है, जिसे सामान्य संस्कृतज्ञ भी सहजतः समझ लेता है और वहीं नैषध तथा माघ को समझने में आचार्य भी मूर्छित हो जाते हैं।

गीता पुत्रवत्सला माँ की भाँति अत्यन्त सरल एवं गम्भीर हैं। जैसे माँ को जानने के लिये हृदय के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार श्रीगीताजी को समझने के लिये भगवद्भक्तिपूर्ण निर्मल अन्तःकरण वृत्ति ही उपादेय है। वहाँ शब्दों की लक्षणा, व्यञ्जना आदि का कोई कार्य नहीं, अतः शब्दों से स्वरसतः प्रकट होने वाला अर्थ ही गीताजी का भावार्थ तथा उपर्युक्त षड्प्रमाणों की एकवाक्यता से निर्णीत सिद्धान्त ही परम तात्पर्य जानना चाहिये।

कुछ लोगों के मत में गीताजी का तात्पर्य एकत्व में है। वे –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(भ०गी० १८.६६)

इस निष्कर्ष-श्लोक में स्थित मामेकं शरणं व्रज का अर्थ इस प्रकार करते हैं – मामेकमद्वितीयं शरणमाश्रयं व्रज निश्चिनु। यथा घटाकाशस्याश्रयो महाकाशस्तरङ्गस्याश्रयो महासमुद्रः (श्री०रा०सु०, पृ० २२४)। अर्थात् सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर मुझ एक अद्वितीय परमात्मा को आश्रय निश्चित करो। यहाँ शब्दों के साथ बलात्कार सुस्पष्ट है। किसी विद्यार्थी के समक्ष यदि गच्छ् (गमॢ गतौ धा०पा० ९८२) धातु का अर्थ पिब् (पा पाने धा०पा० ९२५) कहा जाए तो क्या यह हास्यास्पद नहीं होगा? व्रज् (व्रजँ गतौ धा०पा० २५३) धातु गत्यर्थक है, इससे निश्चय अर्थ कैसे संभव है? यद्यपि गत्यर्थका ज्ञानार्थका अपि भवन्ति – ऐसा मानने पर कथञ्चित् ज्ञानरूप अर्थ संभव हो सकता है पर प्रसङ्ग की स्वरसता भग्न हो जाती है, जैसे हन् हिंसागत्योः (धा०पा० १०१२) के अनुसार हन् धातु का गमन रूप अर्थ व्याकरण-दृष्टि से सम्मत है, परन्तु व्यवहार में बालो गृहं हन्ति इस प्रकार का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि कहा भी गया है –

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नादरणीयम्।

(सुभाषित)

गीता तो लोककल्याणार्थ ही प्रस्तुत की गई, यथा –

लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(भ०गी० ३.२०)

अतः लोककल्याणार्थ-उपदिष्ट गीताजी में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी लोकव्यवहारातीत शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे, क्योंकि उन्हें लोक को ही समझाना है, इसलिये उन्हें लोक की भाषा में ही बोलना होगा। जैसे प्रारम्भिक कक्षा के विद्यार्थी को अध्यापक उसी भाषा में समझाता है। इस प्रकार लोकसंग्रहार्थ प्रवृत्त श्रीगीता में भगवान् व्यवहारातीत अर्थ के प्रतिपादक शब्द का प्रयोग कैसे करेंगे?

किंवा व्रज शब्द का निश्चिनु अर्थ हो ही नहीं सकता। अनेकार्था हि धातवः इस परिभाषा के बल पर यद्यपि धातुओं के अनेक अर्थ स्वीकृत हैं, फिर भी वे अपने द्योतक उपसर्ग के बिना कभी भी प्रकट नहीं होते, जैसे गमॢ धातु (धा०पा० ९८२) का गमनार्थ के साथ ज्ञान रूप अर्थ भी है, किन्तु वह गच्छति कहने पर तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक उसके पूर्व ज्ञानार्थ-द्योतक अव उपसर्ग का प्रयोग कर अवगच्छति नहीं कहा जाता। क्योंकि द्योतक अपने निकटवर्ती पद में वर्तमान शक्ति को व्यञ्जनावृत्ति से द्योतित करते हैं –

स्वसमभिव्याहृतपदीयशक्त्यभिव्यञ्जकत्वं द्योतकत्वम्।

(इत्यस्मद्गुरवः)

इस दृष्टि से स्पष्ट है कि व्रज् ज्ञानार्थक होने पर भी अव इस द्योतक उपसर्ग के बिना निश्चयरूप अर्थ को कभी भी नहीं कह सकता। अत एव एकं शरणमाश्रयं व्रज गच्छ यही अर्थ स्वारसिक एवं प्रामाणिक है। अब इस तात्पर्य के निर्णय में उपादेय उपर्युक्त प्रमाणों पर भी विचार करेंगे। प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि (सां०का० ४) – प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के ही अधीन है। इस तथ्य को समझाने के लिये भगवती गीता का निष्कर्ष-श्लोक ही परम प्रमाण है जो गीता के परम तात्पर्य – भगवान् की शरणागति – में ही पर्यवसन्न हो जाता है।

(१) उपक्रम-उपसंहार

उपक्रम

अब हम प्रथम प्रमाण के अन्तर्गत पूर्वार्ध अर्थात् उपक्रम की चर्चा करते हैं। धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिये उपस्थित अर्जुन अपने सारथि भगवान् श्रीकृष्ण से अपने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले चलने का आग्रह करते हैं –

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥

(भ०गी० १.२१)

अनन्तर प्रभु अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के मध्य उपस्थित कर, उसे कौरवों को देखने के लिये कहते हैं –

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥

(भ०गी० १.२५)

अर्जुन यद्यपि भगवान् की आज्ञा से कौरवों का निरीक्षण कर रहे हैं, पर इस समय उन्हें उस स्वर में अपना ही तन्त्र भास रहा है। आज पृथापुत्र सर्वजगन्निवास, भगवान् वासुदेव को भी अपना आज्ञाकारी सारथि मान बैठे हैं, पर इतनी विशेषता अवश्य है कि इसको चला रहे हैं अच्युत – रथं स्थापय मेऽच्युत (भ०गी० १.२१)। जिस रथ के संचालक अच्युत हों उसका रथी कैसे च्युत हो सकेगा? यहाँ अर्जुन पर विद्यामाया का प्रभाव हुआ, इन्हें गीतामृत की प्राप्ति होगी, यथा विद्ययाऽमृतमश्नुते (शु०य०का०सं० ४०.११, ई०उ० ११)। प्रभु के अनन्य कृपापात्र होने के कारण अर्जुन को अविद्या नहीं व्यापी, अपितु विद्या ने ही उन्हें कुछ क्षणों के लिये भ्रान्त कर अध्यात्मविद्या की प्राप्ति का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। यथा –

हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहिं बिद्या॥

(रा०च०मा० ७.७९.२)

अर्जुन जैसे प्रभु के परम अन्तरङ्ग, सख्यभावापन्न परिकर पर विद्यामाया का प्रसार भी इन्हीं पार्थसारथि, पुण्डरीकाक्ष, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की इच्छा से हुआ। अर्जुन को निमित्त बनाकर जीवमात्र को प्रभु ने गीतातत्त्वपीयूष का पान कराया, यह बात उन्हीं के कथन से स्पष्ट है –

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(भ०गी० १८.६८)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति मुझमें परम भक्तिमान् होकर इस परम गोपनीय संवाद को मेरे भक्तों के समक्ष कहेगा वह निस्संदेह मुझे प्राप्त करेगा। इस फलश्रुति से सुस्पष्ट है कि गीता न केवल अर्जुन की तात्कालिक परिस्थिति के समाधान के लिये है, अपितु यह सर्वदा समस्त समस्याओं के समाधान में सहायिका है। गीता-वाचक को प्रभु ने अपना अत्यन्त प्रियतम कहा, तथा गीता-अध्येता को ज्ञानयज्ञ के द्वारा अपना याजक सिद्ध किया एवं गीता के श्रवणकर्ता के प्रति पुण्यशीलजनों के लोक की प्राप्ति का आश्वासन दिया। यथा –

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

(भ०गी० १८.६९-७१)

आद्य शङ्कराचार्य ने अपने गीताशाङ्करभाष्य के भूमिका-भाग में इसी विषय का स्पष्टीकरण किया है, यथा भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं, देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल संबभूव। ... स च भगवान् ... अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपदिदेश ... तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध। इस परम जगत्कल्याणकर कार्य में किसी निमित्त की अपेक्षा थी, इसलिये अर्जुन को निमित्त बनाया। विद्ययाऽमृतमश्नुते (शु०य०का०सं० ४०.११, ई०उ० ११) अर्थात् विद्या से ही अमृत की प्राप्ति होती है – इस औपनिषद मर्यादा के रक्षण के लिये प्रभु ने अपनी इच्छा से अर्जुन पर विद्या का प्रभाव पड़ने दिया।

अब भ्रमवश अर्जुन कौरवों को अपनी दृष्टि से देखने लगे। गौरवाभिमान ने रौरव जैसा कष्ट देना प्रारम्भ किया। कृपाण के स्थान पर कृपा आई, शरीर शिथिल हो गया, गाण्डीवधारी का गाण्डीव हाथ से खिसकने लगा और अठारह श्लोकों में अपनी अठारह मनोदशाओं का वर्णन किया। प्रथम अध्याय के २९वें श्लोक से ४६वें श्लोक तक जिन अठारह विचित्र विषमताओं का दिग्दर्शन कराया किरीटमाली ने वनमाली को, उन्हीं के उत्तर में अठारह अध्यायों में अष्टदश योगों का निर्देश किया योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने। मानो यहाँ अठारह अध्यायों में अष्टादश विद्याओं का समावेश ही हो गया।

आज अर्जुन कुरुओं को देख रहे थे, यथा कुरून् पश्य (भ०गी० १.२५) अतः कुरु क्रिया का तात्पर्य संदिग्ध हो गया। सम्मुख रथ की बागडोर थामे हुए श्यामसुन्दर को वे नहीं निहार रहे थे, पर प्रभु उनके दक्षिण तथा सम्मुख थे यही एक कृपा थी। पार्थ का मन शोक से उद्विग्न हो गया और वे धनुषबाण फेंककर रथ के पृष्ठभाग में जाकर बैठ गए –

एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥

(भ०गी० १.४७)

यहाँ सशरं चापं विसृज्य यह वाक्यखण्ड साभिप्राय है। मुण्डक-उपनिषद् में ॐकार को धनुष, आत्मा को बाण एवं गन्तव्य ब्रह्म को उसका लक्ष्य माना गया है। यथा –

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मु०उ० २.२.४)

आज अर्जुन ने धनुष-त्याग के व्याज से प्रणव याने ॐकार अर्थात् तन्मूलक वैदिकमार्ग को त्याग दिया, शर याने आत्मा अर्थात् आत्मतत्त्व को भूल गए, अब ब्रह्म रूप लक्ष्य का भेदन अर्थात् अज्ञान-आवरण का निरसन अर्जुन के वश का नहीं रह गया। नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हो गए। प्रभु के उत्तिष्ठ (भ०गी० २.३) कहने पर भी नहीं उठे और किङ्कर्तव्यविमूढ़ता आ गई, तब यादवेन्द्र सरकार के श्रीचरणारविन्द को शरणरूप में अङ्गीकार किया पृथा-पुत्र ने। कितनी दीनता थी उनमें! रोते हुए बोल पड़े पार्थ – हे शरणागतवत्सल! मेरा वास्तविक स्वरूप कार्पण्य रूप दोष से नष्ट हो चुका है, मेरा चित्त धर्म के संबन्ध में किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो गया है। हे प्रपन्नपारिजात! कृपा करके मुझे निश्चित श्रेय का मार्ग बताइये। मैं आपका शिष्य हूँ, स्वामिन्! अब मुझ शरणागत को अनुशासन दीजिये –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(भ०गी० २.७)

यहाँ कार्पण्य पारिभाषिक है। याज्ञवल्क्य से गार्गी ने पूछा, कौन कृपण है?

क इह कृपणो याज्ञवल्क्य।

जो प्रभु को जाने बिना यहाँ से चला जाता है – याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया। यथा –

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।

(बृ०उ० ३.८.१०)

इस श्लोक में पृच्छामि त्वाम् , शाधि माम् तथा निश्चितं ब्रूहि इन तीन क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। इन्हीं तीनों से पार्थ ने क्रम से कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग के विषय में पिपासापूर्ण जिज्ञासा प्रस्तुत की। यहीं से प्रपत्ति अर्थात् शरणागति का श्रीगणेश हुआ।

रथी की परिस्थिति में अर्जुन प्रभु से उच्च आसन पर थे, किन्तु अब शरीर रूप रथ के विश्रृङ्खल होते ही वे अपने को विरथ मानकर रथ के पीछे बैठ गए। अब प्रभु उच्च आसन पर विराजमान होकर शरणागति रहस्य का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त हुए।

द्वितीय अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन प्रभु के पदकमल में प्रपन्न हुए, मानो इसी सप्तम सङ्ख्या ने गीता के सप्तशत श्लोकों को समुद्भूत किया। सातवें श्लोक में अर्जुन की प्रपत्ति इसलिये भी उचित है कि जीवन-यापन के लिये सात ही दिवस निर्धारित हैं। इनकी सार्थकता प्रभु की शरणागति में ही है। एक सप्ताह पर्यन्त इन्होंने ही करकमल पर गोवर्धन को धारण कर रखा था – सप्ताहं नाचलत्पदात् (भा०पु० १०.२५.२३)। इस श्लोक का प्रथम चरण इन्द्रवज्रा वृत्त का है तथा शेष तीन चरण शालिनी छन्द के हैं। तात्पर्य यह है कि जिस अर्जुन में इन्द्र के ऐश्वर्य एवं वज्र के समान दृढ़ता थी, उसी ने आज कायिक, वाचिक, मानसिक – इन तीनों

प्रकार की शरणागतियों को स्वीकार कर अपने में शालिनी-वृत्ति का आश्रय ले लिया।

शाधि मां त्वां प्रपन्नम् यहाँ प्रपन्न शब्द पदँ गतौ (धा०पा० ११६९) इस गत्यर्थक प्र उपसर्गपूर्वक पद् धातु से गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च (पा०सू० ३.४.७२) इस सूत्र से कर्त्रर्थ में क्त प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है, अर्थात् प्रकर्षेण विषयेभ्यो विरक्तो भूत्वा पद्यते गच्छति भगवच्चरणारविन्दं यः स प्रपन्नः। विषयों से विरक्त होकर जो एकमात्र भगवान् के चरणारविन्दों में चला जाता है, उसे प्रपन्न कहते हैं। त्वां प्रपन्नम् इस शब्द में त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः (वा०रा० ६.१७.१६) विभीषण के इसी करुण निवेदन का भाव तिरोहित है। विभीषण ने अपनी समस्त कौटुम्बिक ममता को त्यागकर श्रीराघव की शरणागति स्वीकारी थी।

आज अर्जुन ने भी त्वां प्रपन्नम् कहकर समस्त कौटुम्बिक ममता के त्याग का संकेत किया। आज उनकी दृष्टि में एकमात्र पीताम्बरधारी, मयूरमुकुटी, त्रिभुवनकर्ता, भुवनभर्ता, भृत्यभयहर्ता, रुक्मिणीरमण, श्रीकृष्ण के नवनलिनचरण ही शरण थे। आज उन्हें विस्मृत हो गई थी वितृष्णा कृष्णा, जिसके लिये पहले मत्स्यभेदन किया था। आज उनकी दृष्टि में नहीं आती थी भद्रा सुभद्रा, जिसका यतिवेश धारणकर द्वारका में अपहरण किया था। आज नहीं मान्य थी उन्हें अभिमन्यु की पुत्रमान्यता, उस अभिमन्यु की जो युवकसम्राट् और साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का लाडला ललित भांजा था।

यह परम अनुकूल परिवार भी परमेश्वर की शरणागति के बिना उन्हें शूल के समान प्रतिकूल लग रहा था। उन्होंने आर्तस्वर में विनय किया, चाहे मैं निष्कण्टक वसुन्धरा सम्राट् बन जाऊँ अथवा स्वर्गलोक का आधिपत्य पाऊँ, फिर भी ऐसा कोई उपाय नहीं दृष्टिगोचर होता जो मेरी इन्द्रियों के शोषक शोक को समाप्त कर सके –

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥

(भ०गी० २.८)

यहाँ (भ०गी० २.७ में) अर्जुन ने कायिक, वाचिक, मानसिक – इन तीनों शरणागतियों को स्वीकारा यथा –

- मानसिक – कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
- वाचिक – पृच्छामि त्वाम्
- कायिक – शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

इस प्रकार अर्जुन ने पूर्ण शरणागति स्वीकारी पर अभी वे शरणागति का अर्थ नहीं समझ पाए थे, उनके मत में शरणागत होना पूर्ण अकर्मण्य बनना था। अतः कहा कि गोविन्द न

योत्स्ये (भ०गी० २.९) – हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा। ऐसा कहकर वे चुप हो गए। अर्जुन की यह परिस्थिति सुग्रीव की परिस्थिति से मिलती-जुलती है। विषय की स्पष्टता के लिये दोनों का समन्वय अनपेक्षित नहीं होगा।

सुग्रीव दैवी सम्पत्ति के अर्थात् सूर्य के पुत्र हैं, तो इधर अर्जुन भी देवराज इन्द्र के पुत्र हैं। सुग्रीव श्रीराम के सखा है, यथा –

सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब विधि घटब काज मैं तोरे॥

(रा०च०मा० ४.७.१०)

इधर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के सखा हैं – भक्तोऽसि मे सखा चेति (भ०गी० ४.३)। सुग्रीव का सर्वस्व बन्धु के द्वारा हरा गया एवं नारी का भी प्रधर्षण हुआ। इधर अर्जुन का भी सर्वस्व कौरव-बन्धुओं के द्वारा हरा गया तथा उनकी पत्नी द्रौपदी का अपमान भी हुआ। सुग्रीव बाली के द्वारा निष्कासित हैं तो इधर अर्जुन भी दुर्योधन के द्वारा निर्वासित हैं। दुन्दुभी-अस्थि-क्षेपण एवं तालभेदन से सुग्रीव ने श्रीराघव के भगवत्तत्त्व को पहचाना –

दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीति। बालि वधब इन भइ परतीती॥

(रा०च०मा० ४.७.१२-१३)

तत्क्षण बाली के प्रति व्याप्त उनका पूर्व आक्रोश समाप्त हो गया एवं गद्गद स्वर में सुग्रीव बोल पड़े कम्बुग्रीव से – हे दशग्रीवशत्रो! बाली मेरा हितैषी है, उसी के प्रसाद से आपके श्रीचरणारविन्द का दर्शन हुआ। अब मुझपर ऐसी कृपा की जाए कि मैं सब कुछ छोड़कर आपका ही भजन करूँ –

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम शमन बिषादा॥
सपने जेहि सन होई लराई। जागे समुझत मन सकुचाई॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँति। सब तजि भजन करौं दिन राती॥
सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि रामु धनुपानी॥

(रा०च०मा० ४.७.१९-२२)

उसी प्रकार आज अर्जुन भी मैं युद्ध नहीं करूँगा इस प्रकार कहकर युद्ध से विराग चाहते हैं। सुग्रीव को प्रभु ने एक ही चौपाई में पूरी गीता सुना दी –

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

(रा०च०मा० ४.७.२३)

अर्थात् सुग्रीव-पत्नी रूमा पर बाली के द्वारा किये गए अत्याचार से क्षुब्ध होकर प्रभु ने बाली-वध की प्रतिज्ञा की। अब वे उसे अन्यथा नहीं कर सकते। अतः वहाँ गीता सुनाकर सुग्रीव को पुनः युद्ध में तल्लीन किया, एवं उन्हें निमित्त बनाकर स्वयं बाली का वध किया।

उसी प्रकार यहाँ भी द्रौपदी के केशकर्षण से व्यथितहृदय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने समस्त कौरव-दल के वध की प्रतिज्ञा ली तथा अर्जुन को युद्ध से उपरत देखकर उन्हें गीता-ज्ञान से कर्तव्य का बोध कराकर युद्ध में प्रवृत्त किया और पार्थ को निमित्त बनाकर स्वयं ही दुष्ट राजाओं का वध किया –

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

(भ०गी० ११.३३)

भगवान् कहते हैं कि तुम उठो और यश को प्राप्त करो तथा शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से संपन्न राज्य को भोगो। ये सब शूरवीर पहले से ही मेरे द्वारा निहत हैं। हे सव्यसाचिन्! तुम तो केवल निमित्तमात्र हो जाओ। यहाँ सव्यसाचिन् सम्बोधन अर्जुन के लिये एक विशिष्ट संकेत कर रहा है। सव्येन वामहस्तेन सचते तच्छीलो वामहस्तेन निक्षिपति बाणान् यः स सव्यसाची तत्सम्बुद्धौ हे सव्यसाचिन् । सव्यसाचिन् शब्द का संस्कृत में अर्थ होता है बाएँ हाथ से बाण चलाने वाला। भगवान् का इस सम्बोधन में यह आशय है कि द्रौपदी के केशकर्षणकाल में ही मैंने इस सबों को मार डाला है। तुम इन मृतकों को बाएँ हाथ से भी बाण चलाकर सहजतया मारने में सफल हो जाओगे, अथवा इनको मारना यह तुम्हारे बाएँ हाथ का खेल होगा। भगवान् अर्जुन से यह कहना चाहते हैं कि ये लोग इतने जघन्य पापी हैं कि ये अपनी मृत्यु से मरेंगे और तत्पश्चात् इनको रौरव नरक मिलेगा। अतः अर्जुन तुम ही इन्हें मारो, तुम्हारे हाथों मरने से इनका कल्याण हो जाएगा। भगवान् करुणानिधि हैं, इसलिये इन दुष्टों के ऊपर करुणा करके इनका अर्जुन के हाथों उद्धार करवाना चाहते हैं। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि भगवान् स्वयं उन्हें क्यों नहीं मारते? इसका प्रथम समाधान यह है कि अपने भक्तों को निरन्तर गौरव देना भगवान् का एक स्वभाव है – संतत दासन देहु बड़ाई (रा०च०मा० ३.१३.१४)। यहाँ अर्जुन को यश देना है और कौरवों को मोक्ष देना है। दूसरी बात यह भी है कि राम ते अधिक रामकर दासा (रा०च०मा० ७.१२०.१६)। भगवान् जानते हैं कि ये कौरव इतने पापी हैं कि मेरे हाथों से मरने के पश्चात् भी इनका मोक्ष नहीं होगा, और मुझसे बड़े मेरे भक्त होते हैं, अतः अर्जुन के बाण से ही उनको निर्वाण देना चाहते हैं। वास्तव में कौरव रावण से भी अधिक पापी हैं, क्योंकि सीताजी का हरण करते समय रावण ने तो मन-ही-मन किशोरीजी की चरण वन्दना की, यथा –

सुनत बचन दशशीष लजाना। मन महँ चरन बंदि सुख माना॥

(रा०च०मा० ३.३०.८)

किन्तु महाभारत का दुर्योधन रावण से कोटि गुना गिरा हुआ है। यह द्रौपदी को रजस्वला अवस्था में भी निर्वस्त्र बनाकर, अपने जङ्घे पर बिठाने का कुप्रयत्न करता है। अतः भगवान्

कहते हैं कि इन मूर्खों का पाप इतना बढ़ गया है कि मेरा चक्र भी इनका उद्धार नहीं कर सकेगा। अतः जो काम भगवान् नहीं कर सकते वह उनके भक्त कर सकते हैं क्योंकि भगवान् अनुग्रह और निग्रह दोनों कार्य करते हैं जबकि भगवान् के भक्त कभी भी निग्रह नहीं करते वे केवल अनुग्रह ही करते हैं। जयन्त ने इतना जघन्य पाप किया था कि उसे बचाना किसी के लिये संभव नहीं था। किन्तु नारदजी की कृपा ने उसे सहजतः बचा लिया। इस प्रकार भगवान् अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित करते हैं – निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् (भ०गी० ११.३३) तुम केवल इस युद्ध के निमित्त बनो। तब अर्जुन मानो रोकर कहने लगे कि हे प्रभो! जिस हाथ से मैं माला फेरता हूँ उस हाथ से मैं भाला कैसे उठाऊँ? तब भगवान् ने कहा कि तुम्हें केवल बाएँ हाथ से बाण फेंकना है बस ये लोग मर जाएँगे। अर्थात् ये तो प्रथम से ही मरे हुए हैं। इन मृतकों को ही तुम्हें मारना है। धनञ्जय! माला-जप तो दक्षिण कर से किया जाता है और तुम्हें वाम कर से शस्त्र चलाकर ही इन्हें मारना है। इससे तुम्हारी पूर्वोक्त मान्यता का भी समादर हो जाता है। वचनरचनानागर नटनागर ने सव्यसाचिन् सम्बोधन से अर्जुन के इस अन्तःप्रश्न का भी समाधान कर दिया।

इस प्रकार सुग्रीव की भाँति अर्जुन ने भी शरणागति का निष्क्रियता में पर्यवसान माना, पर श्रीराम की भाँति श्याम भी इस मान्यता से सन्तुष्ट नहीं थे। इन दोनों महाप्रभुओं को परिस्थिति के अनुसार शरणागति के लिये माला के साथ भाला उपयुक्त लगी। इस सन्दर्भ में श्रीहनुमान् जी एवं अर्जुन के कृतित्व द्रष्टव्य हैं। शरणागत के लिये व्याकुलता एवं दीनता – ये ही दोनों पाथेय हैं। व्याकुलता से शरणागत संसार-मोह से उपरत होता है तथा दीनता से जगन्निवास प्रभु की परमप्रीति का भाजन बनता है, यथा – ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्दैन्य-प्रियत्वाच्च (ना०भ०सू० २७), जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना (रा०च०मा० १.१८६.४)। सौभाग्य से कौन्तेय में ये दोनों सद्गुण आ गए थे। व्याकुलता यथा –

शोकसंविग्नमानसः

(भ०गी० १.४७)

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥

(भ०गी० २.१)

दीनता यथा –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(भ०गी० २.७)

इस प्रकार गीताजी के उपक्रम में ही अर्जुन के व्यक्तित्व में शरणागति की पूर्ण परिस्थिति परिपूर्णतः विकसित हुई है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। अपने मत के आग्रह के अनुसार सिद्धान्त-प्रतिपादन में असमर्थता के भय से कतिपय मनीषियों ने गीताजी के इस महत्त्वपूर्ण अंश को व्याख्येय नहीं माना पर कोई भ्रमवश बादल से ढके हुए सूर्यनारायण को तेजोहीन मान ले तो क्या उनका सूर्यत्व कहीं चला जाएगा?

वस्तुतः यही श्लोक अर्जुन को गीताश्रवण का अधिकारी सिद्ध करता है, क्योंकि फलश्रुति में भगवान् ने अपने भक्तों के समक्ष ही गीताज्ञान के वाचन का आदेश किया है –

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(भ०गी० १८.६८)

जो पुरुष मेरे में परमप्रेम करके इस परम रहस्युक्त गीताशास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा अर्थात् निष्काम भाव से प्रेमपूर्वक मेरे भक्तों को पढ़ावेगा या अर्थ की व्याख्या द्वारा इसका प्रचार करेगा वह निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।

यदि द्वितीय अध्याय के इस सातवें श्लोक की उपेक्षा कर दी जाएगी तो अर्जुन में गीताश्रवण की अधिकारिता ही नहीं सिद्ध होगी इस प्रकार उपक्रम में शाधि मां त्वां प्रपन्नम् वाक्य-खण्ड से शरणागति का भी वर्णनोपक्रम सम्पन्न हुआ। प्रपन्न शब्द शरणागत का पर्यायवाची है। यथा प्रपत्तिः शरणागतिः (द०वि०हे०नि० १०५)।

उपसंहार

अब हम इस प्रमाण के उत्तरार्ध अर्थात् उपसंहार की चर्चा करें। उपसंहार का अर्थ होता है प्रतिपाद्य वस्तु का वर्णन-विश्राम-संकेत – उपसंह्रियते सङ्क्षिप्यते वर्ण्यविषयो यस्मिन्स उपसंहारः। गीताजी का उपसंहार १८वें अध्याय के ६६वें श्लोक में माना जाता है। उपक्रम में शरणागत शब्द के पर्यायवाची प्रपन्न शब्द का प्रयोग कर उपसंहार में स्पष्टतः मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६) इस वाक्यखण्ड में शरण शब्द का अभियान कर रहे हैं। शरण शब्द का कोष के अनुसार गृह अर्थात् आश्रय और रक्षक अर्थ होता है – शरणं गृहरक्षित्रोः (अ०को० ३.३.५३)। यहाँ शरण शब्द का प्रथम याने आश्रय अर्थ ही इष्ट है। भगवान् का अभिप्राय है कि सम्पूर्ण धर्मों से कर्तृत्व हटाकर एकमात्र मुझ परमात्मा के शरण में जाओ अर्थात् मुझे आश्रय रूप में स्वीकारो।

यहाँ व्रज् धातु का अर्थ है स्वीकुरु क्योंकि गत्यर्थक धातु प्राप्त्यर्थक माने जाते हैं, सर्वे गत्यर्थाः प्राप्त्यर्थाश्च। जैसे आनन्दं गच्छामि अर्थात् आनन्दं प्राप्नोमि। इस प्रकार उपसंहार वाक्य में कण्ठरवेण शरण शब्द का प्रयोग होने से उपक्रमोपसंहाररूप प्रमाण

में गीताजी का शरणागति तात्पर्य-निश्चित किया, अर्थात् गीतारूप शालग्राम-शिला को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने आदि तथा अन्त में शरण शब्द का प्रयोग करके शरणागति रूप सम्पुट में सम्पुटित कर भक्ति रूपी तुलसीमञ्जरी से समलङ्कृत किया। यहाँ व्रज क्रिया का अन्वय शरण शब्द के साथ ही करना उचित है, क्योंकि विधेय का ही क्रियापद से अन्वय होता है – उद्देश्यञ्च भवेत्पूर्वं विधेयञ्च ततः परम् । यदि यहाँ शरण शब्द का अन्यथा व्याख्यान करने की चेष्टा की जाए तो मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये (श्वे०उ० ६.१८) इस श्रुति-वाक्य की क्या स्थिति होगी? अतः यहाँ निर्विवाद शरणं व्रज का शरणागति में ही तात्पर्य समझना चाहिये।

(२) अभ्यास

द्वितीय प्रमाण अभ्यास का भी यहाँ अभाव नहीं है। प्रभु ने बार-बार अर्जुन के समक्ष शरणागति का ही निर्देश किया है। यथा –

- बुद्धौ शरणमन्विच्छ (भ०गी० २.४९)
- निवासः शरणं सुहृत् (भ०गी० ९.१८)
- अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते (भ०गी० ९.२२)
- मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु (भ०गी० ९.३४)
- तमेव शरणं गच्छ (भ०गी० १८.६२)

इस प्रकार शरणागति-तात्पर्य-विषयक अभ्यास-वाक्यों से समस्त गीताजी ओतप्रोत हैं।

(३) अपूर्वता

शरणागति पूर्व संस्कारों को समाप्त कर जीवन में एक अपूर्व भक्ति रस लाती है। यथा –

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(भ०गी० ९.२५)

भगवान् कहते हैं कि देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों के समर्चक पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं, इसीलिये मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता। यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् यहाँ अपि शब्द से भगवदुपासकों का प्रभु को प्राप्त हो जाना – ये ही अपूर्वता है। यद्यपि भगवान् के शरणागत होकर भी लोग कदाचित् प्रारब्धवश अनर्गल अशास्त्रीय कृत्य कर बैठते हैं तथापि वे प्रभु को ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि –

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति शत बार हिए की॥

(रा०च०मा० १.२९.५)

भगवत्समर्पित व्यक्ति शुभाशुभ कर्मों से मुक्त हो जाता है –

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(भ०गी० ९.२८)

भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मुझमें कर्मसमर्पण रूप संन्यासयोग से युक्त हुए मन वाले तुम शुभाशुभ-फल रूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होओगे। यहाँ संन्यास का अर्थ है सात्त्विक न्यास, और न्यास शब्द शरणागति का पर्यायवाची है। सात्त्विको न्यासः संन्यासः। न्यासश्च शरणागतिः। यद्वा सम्यङ्न्यासो भगवत्यात्मनिक्षेपः संन्यासः। स एव योगः संन्यासयोगः। तेन युक्त आत्मा यस्य तथाभूतः संन्यासयोगयुक्तात्मा। अर्थात् सम्यक् रूप से भगवान् के श्रीमच्चरणकमल में आत्मसमर्पण को ही संन्यास कहते हैं। यद्वा सति परमात्मनि न्यासः स्वस्य नितरां समर्पणं संन्यासः। अर्थात् सत्यस्वरूप परमात्मा में अपने स्व के पूर्ण समर्पण को ही संन्यास कहते हैं। इस प्रकार गीता में अभिहित संन्यास शब्द परमेश्वर-शरणागति-परक ही है न कि संन्यास-सम्प्रदाय-परक। अतः संन्यासयोगयुक्तात्मा का अर्थ हुआ शरणागति-योगयुक्तात्मा – यही यहाँ अपूर्वता है।

(४) फल

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(भ०गी० ७.१४)

भगवान् कहते हैं कि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया-सरिता को पार कर जाते हैं। यहाँ शरणागति द्वारा माया का तरण ही महाफल है।

(५) अर्थवाद

निन्दास्तुतिपरकवचनमर्थवादः याने निन्दास्तुतिपरक वचन ही अर्थवाद है। प्रभु ने बार-बार शरणागति के विषय में प्रशंसापरक वचन कहे हैं। यथा –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(भ०गी० ९.२२)

जो अनन्यभाव से मुझमें स्थित भक्तजन मुझ परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य एकीभाव से मुझमें स्थिति वाले जनों के योगक्षेम का निर्वाह मैं स्वयं करता हूँ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(भ०गी० ९.३०-३१)

भगवान् कहते हैं कि यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त हुआ, मुझको निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है अर्थात् उसने भली-प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है, हे कौन्तेय! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(भ०गी० १२.७)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त को लगाने वाले प्रेमीभक्तों को मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥

(भ०गी० १८.५८)

हे अर्जुन! इस प्रकार तुम मुझमें निरन्तर मन वाले होकर मेरी कृपा से जन्म, मृत्यु आदि सब संकटों को अनायास ही तर जाओगे। नवें अध्याय के तीसवें श्लोक में भगवान् ने पतित व्यक्ति को भी शरणागति के पश्चात् शुद्ध होने का घोष किया। नवें अध्याय के ३१वें श्लोक में कौन्तेय सम्बोधन सारगर्भित है। अभिप्राय यह कि जैसे तुम्हारी माँ कुन्ती इन्द्रादि-सम्पर्क से दूषित होने पर भी मेरी शरणागति की महिमा से प्रातःस्मरणीय हो गई, उसी प्रकार कोई भी पूर्व का दुराचारी मुझ परमेश्वर को अनन्यनिष्ठा से भजकर सज्जन बन जाता है। यथा – कुन्ती तव मातेन्द्रादिसम्पर्कदूषिताऽपि मम शरणागतिमहिम्ना प्रातःस्मरणीया सञ्जाता तथैव कोऽपि दुराचारो मम शरणागतो भूत्वा ध्रुवमेव शुद्धो भवति (भ०गी०रा०भा०टि०)। इसी अभिप्राय की पङ्क्तियाँ श्रीमानस के सुन्दरकाण्ड में विभीषण शरणागति के प्रसंग में श्रीराघव ने उद्धृत की हैं –

जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय शरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

(रा०च०मा० ५.४८.२-३)

उपरितन श्लोक (भ०गी० ९.३१) में प्रयुक्त प्रतिजानीहि पद का सामान्यतः अर्थ किया जाता है – निश्चित जानो, किन्तु प्रतिपूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ प्रतिज्ञा हुआ करता है। अतः यहाँ अर्थ प्रतिजानीहि पद का प्रतिज्ञां कुरु अर्थ करना चाहिये। याने हे कौन्तेय ! तुम प्रतिज्ञा करो कि भगवान् का भक्त कभी नष्ट नहीं होता। यहाँ जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है कि भगवान् स्वयं अपने भक्तों के लिये प्रतिज्ञा करें यह उनके लिये उचित है, परन्तु अर्जुन द्वारा प्रतिज्ञा कराने में भगवान् का क्या अभिप्राय रहा होगा? विचार करने पर इसका उत्तर बड़ा ही रसावह एवं सुगम है। अर्जुन द्वारा प्रतिज्ञा कराकर भगवान् यह कहना चाहते हैं कि मेरी प्रतिज्ञा तो भक्त कदाचित् अन्यथा कर डालते हैं, अतः मेरी प्रतिज्ञा विशेष महत्त्व की नहीं है। इसलिये तुम प्रतिज्ञा करो क्योंकि मेरे भक्त की प्रतिज्ञा कभी भी अन्यथा नहीं होगी। इस सन्दर्भ में भीष्मप्रतिज्ञाप्रसंग द्रष्टव्य है। भक्त के समक्ष भगवान् को प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। पितामह भीष्म की प्रतिज्ञा को अक्षत रखने के लिये रथाङ्गपाणि ने रथाङ्ग (चक्का) उठाया। भागवतजी के प्रथमस्कन्ध में अपने महाप्रयाण के समय पितामह भीष्म मुरली-मनोहर के इसी विरुद पर रो पड़े और बोले –

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥

(भा०पु० १.९.३७-३८)

पितामह भीष्म शरशय्या पर पड़े हुए भगवत्प्रेम में विभोर भाव से कहने लगे कि हे प्रणतपाल! कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में जब मैंने आपसे शस्त्र उठाने के लिये साग्रह प्रतिज्ञा की तब आप मेरी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये अपनी शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा को छोड़कर, अपने करकमल में रथाङ्ग लेकर उसी प्रकार आवेश में दौड़ पड़े, जैसे मदमत्त गजेन्द्र पर सिंह टूट पड़ता है। उस समय आपके स्कन्ध से दुकूल गिर पड़ा, एवं आपके श्रीचरण का भार असह्य होने के कारण पृथ्वी काँपने लगी। मुझ आततायी के अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों से आपका कवच छिन्न-भिन्न हो गया था एवं मेरे प्रहार से रक्तरञ्जित होकर आप अत्यन्त आक्रोश में मेरा वध करने हेतु धनञ्जय के रथ से उतरकर दौड़ पड़े थे। उसी झाँकी से युक्त भक्तजनों को भुक्ति-मुक्ति देने वाले षडैश्वर्य-सम्पन्न परम पिता परमेश्वर! आप ही अब मेरे आश्रय हों।

शरणागति की प्रशंसा अर्थात् अर्थवाद की चरम सीमा १८वें अध्याय के ६२वें श्लोक में परिलक्षित हो गई –

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(भ०गी० १८.६२)

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने विशेष्य के साथ एवकार का प्रयोग करके, अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा एकमात्र भगवच्छरणागति में ही अपना मन्तव्य सुस्थिर कर दिया।

आचार्य शङ्कर भी यहाँ आते-आते अपने पूर्वाग्रह से हटकर इसी भावसागर की एक तरङ्गसीकर में निमग्न हो गए। अन्यत्र तो किसी प्रकार शब्दों में खींचातानी करके अपने मत का प्रतिष्ठापन किया किन्तु इस श्लोक की शरणागति ने तो उन्हें भी शरणागत बना ही डाला। उदाहरणार्थ यहाँ शाङ्करभाष्य –

तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारार्तिहरणार्थं गच्छाऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना हे भारत!
ततस्तत्प्रसादादीश्वरानुग्रहात्परां प्रकृष्टां शान्तिं परामुपरतिं स्थानं च मम विष्णोः परमं
पदमवाप्स्यसि शाश्वतं नित्यम्॥

(भ०गी०शा०भा० १८.६२)

अर्थात् हे भारत! तुम सर्वभाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ याने संसार के समस्त क्लेशों का नाश करने के लिये मन, वाणी और शरीर द्वारा सब प्रकार से उस ईश्वर का ही आश्रय ग्रहण करो। फिर उस ईश्वर के अनुग्रह से परम उत्तम शान्ति को अर्थात् परम उपरति को और शाश्वत स्थान को अर्थात् मुझ विष्णु के परमनित्यधाम को प्राप्त करोगे।

यद्यपि कुछ आचार्यों के मत में गीताजी का प्रथम अध्यायषट्क कर्मकाण्ड का प्रतिपादक तथा तृतीय अध्यायषट्क ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक है, पर विलक्षणता यह है कि तृतीय अर्थात् ज्ञान के षट्क को भी भगवान् ने शरणागति की प्रशंसा से अछूता नहीं रखा, इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा शरणागति के तात्पर्य-पोषकत्व में? जहाँ प्रभु १८वें अध्याय के ६३वें श्लोक में ज्ञान का उपसंहार कर रहे हैं, वहीं उसके पूर्व ६२वें श्लोक में विधिवाक्य द्वारा सशक्त शब्द में अर्जुन को शरणागत होने का आदेश करते हैं, क्योंकि ज्ञान की परिणति भी शरणागति में ही है। भगवत्प्रपत्ति ही ज्ञान रूप जल का धरातल है। यथा –

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

(रा०च०मा० ७.११९.५-६)

जैसे करोड़ों उपाय करने के पश्चात् भी स्थल के बिना जल रह नहीं सकता, उसी प्रकार हे खगराज! हरि-भक्ति को छोड़कर मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती। शुष्कज्ञान से व्यक्ति माया-महासागर को नहीं पार कर सकता, न तो भगवत्प्रेम बिना ज्ञान का अस्तित्व ही रहता

है। श्रीगोस्वामिपाद ने इस तथ्य को समझाने का एक दृष्टान्त द्वारा बड़ा स्तुत्य प्रयास किया है। जैसे यात्रियों से भरी हुई नौका महासिन्धु के तरंगों के प्रवाह में चल रही हो, पर उसमें खेने वाला कर्णधार न हो, इस परिस्थिति में वह कब तक व्यवस्थित रहेगी? कभी न कभी उसे यात्रियों के सहित सागर में मग्न होना ही है। उसी प्रकार भगवत्प्रेम के बिना ज्ञान को कभी न कभी अज्ञान से समावृत होना ही है –

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

(भ०गी० ५.१५)

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

(रा०च०मा० २.२७७.५)

तमेव शरणं गच्छ (भ०गी० १८.६२)। यहाँ एव पद भी साभिप्राय है अर्थात् उन्हीं परमात्मा की ही शरण में जाओ। वे ही सर्वलोकशरण्य हैं। असमर्थ की शरणागति घातक होती है। इस सन्दर्भ में रामायण एवं महाभारत – इन दोनों विशिष्टतम इतिहासग्रन्थों से एक-एक उदाहरण विषय की स्पष्टता के लिये पर्याप्त है। श्रीमद्रामायण में विभीषण ने सर्वलोकशरण्य, सर्वेश्वर, सर्वसमर्थ, श्रीराघवेन्द्रजू की शरणागति स्वीकारी एवं कहा कि –

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥

(वा०रा० ६.१७.१७)

विभीषण वानरों के प्रति निवेदन करते हुए बोले – हे कपीश्वरों! आप सब सम्पूर्ण लोकों को शरण देने में समर्थ महात्मा श्रीराघवजू के चरणारविन्द में उपस्थित, मुझ विभीषण को निवेदित कर दें। श्रीरामभद्रजू सर्वसमर्थ हैं अत एव विविध विरोधों के वातावरण में भी यह कहकर शरण में ले लिया कि –

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा०रा० ६.१८.३४)

हे वानरश्रेष्ठ सुग्रीव! चाहे आगन्तुक रावण का छोटा भाई विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न आया हो, इस भद्र व्यक्ति को यहाँ ले आइये, मैंने इसे अभयदान दे दिया है। तात्पर्य यह है कि समर्थशरण्य श्रीराघवेन्द्रजू के अलौकिक सामर्थ्य ने शरणागत विभीषण की समस्त बिगड़ी बातें सुधार दी, अतः गोस्वामीजी ने गीतावली में गाया कि सब भाँति बिभीषन की बनी (गी० ५.३९.१)। ठीक इसके विपरीत एक दूसरा भी चित्र देखें। समुद्रतरण की समस्या के समय, रघुनाथजी को विभीषण ने मन्त्रणा दी कि बिनय करिअ सागर सन जाई (रा०च०मा० ५.५०.८)। यद्यपि यह मत श्रीलक्ष्मणजी को नहीं भाया, तथापि ऐसेहिं

करब धरहु मन धीरा (रा०च०मा० ५.५१.५) यह कहकर तटस्थ भाव से श्रीराघवेन्द्र समुद्र के पास जाकर उसके आराधन में तत्पर हुए, अर्थात् आज राघव ने असमर्थ समुद्र की शरण स्वीकारी। समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति (वा०रा० ६.१९.३०)। रावण ने भी प्रभु की इस असमर्थ शरणागति पर हँसी उड़ाई –

सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥

(रा०च०मा० ५.५६.५)

तीन दिन बीत गए कोई प्रतिफल नहीं हुआ। जिनका बाण करोड़ों सिन्धुओं का शोषक है, उन राघवेन्द्र सरकार ने यह लीला केवल इसी विषय को स्पष्ट करने के लिये की कि शरणागत को कभी भी असमर्थ शरण्य का वरण नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार का दृश्य महाभारत में भी वर्तमान है। अर्जुन ने सर्वसमर्थ, सकललोकशरण्य, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को आश्रय रूप में स्वीकारा। यह कथा सर्वविदित है कि जब रण-निमन्त्रण देने एक ही समय दुर्योधन तथा अर्जुन द्वारका गए, उस समय प्रभु ने दोनों के समक्ष दो पक्ष रखे – एक ओर मेरी दशकोटि नारायणी सेना रहेगी एवं एक ओर मैं निःशस्त्र। आप दोनों मनचाहा चुनाव कर लें। दुर्योधन ने सर्वशस्त्रसुसज्जित दशकोटि नारायणी सेना ले ली एवं महाविश्वासनिष्ठ धनञ्जय ने निःशस्त्र परमेश्वर को ही स्वीकारा – यह प्रसंग ही उनकी अनन्यनिष्ठा का द्योतक है। रणभूमि में भी इस अद्भुत महारथी ने अपने रथ की बागडोर प्रभु के हाथ में सौंप दी। अहो! कितनी अटूट श्रद्धा है अपने सखा श्याम पर। स्थूल रूप से अर्जुन एक आसक्त गृहस्थ से दिखते हैं, पर सूक्ष्म रूप में वे मनमोहन की रूपमाधुरी में ही सराबोर रहते हैं। सत्य ही जिसके मनोमन्दिर में बाँकेबिहारी की बाँकी झाँकी हो वह संसार की बाँकी दृष्टि से कभी भी वञ्चित नहीं हो सकता! त्रिलोकसुन्दरी उर्वशी भी जिन वशी को वश में न कर सकी, क्योंकि उनके उर में बसे हुए थे भगवान् श्यामसुन्दर। अर्धरात्रि की नीरवता को अपनी पायल के छम-छम से सरव बनाती हुई, मदिर नयनों से नीरजनयन के नयनतारे, पाण्डववंशवर्धन अर्जुन के एकान्त कक्ष में आकर प्रणययाञ्चा में आसक्त उर्वशी को देख अर्जुन ने साश्चर्य पूछा –

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां कुरूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥

(तुलना करें र०वं० १६.८)

अये शुभे! तुम कौन हो? किसकी पाणिगृहीत भार्या हो? मेरे यहाँ आने में तुम्हारा क्या हेतु हो सकता है? कुरुवंशियों के मन की प्रवृत्ति परनारी से विमुख होती है, यह मानकर मुझे उत्तर दो। उर्वशी ने कहा, युवक! मैं तुझसे तेरे समान पुत्र चाहती हूँ। अर्जुन ने कहा, माँ! मेरे सम्पर्क से मुझ जैसा पुत्र होगा ही यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, अतः तुम मुझे ही

पुत्र मान लो। यह सुनकर यद्यपि उर्वशी ने दिया शाप, पर वही अर्जुन के लिये वरदान रूप में परिणत हुआ, और इसी चरित्र-शुद्धता के उपलक्ष्य में भगवान् ने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिव्य-नेत्र दिया – दिव्यं ददामि ते चक्षुः (भ०गी० ११.८)। अहो! बलिहारी है, प्रभु के उदात्त स्वभाव की। त्रेता में चरित्रभ्रष्टता के अभियोग में इन्द्रपुत्र जयन्त को नेत्रहीन कर दिया – राखा जियत आँखि गहि फोरा (रा०च०मा० ६.३६.१२) – तथा द्वापर में प्रभु ने चरित्ररक्षण के हर्ष में इन्द्रपुत्र अर्जुन को दिव्य-नेत्र दे दिया। अर्जुन का अपने प्रभु पर सर्वदा पूर्ण विश्वास रहा है, केवल जीवों पर करुणावशंवद होकर, हम जैसे पामरप्राणियों के हितार्थ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी से गीताज्ञान की अवतारणा कराने की इच्छा से, उन्होंने शोक, मोह आदि से समाकुल व्यक्ति का अभिनय किया। वस्तुतः अर्जुन प्रभु के नित्यप्रिय परिकर हैं। यहाँ यह अवश्य ध्यान देना चाहिये कि परमेश्वर संसार के हित के लिये प्रवर्तित अपनी ललित नरलीला में अपने प्रिय परिकरों को ही पात्र बनाते हैं। जैसे किसी अभिनय का निर्देशक अपने अभिनय को सफल बनाने के लिये अपने अभिनय में उन्हीं को भाग देता है, जिनसे उसकी एकवाक्यता होती है। प्रभु सदैव अवतारकाल में अपने साथ प्यारे परिकरों को ही रखते हैं। जैसे किसी यात्री-दल का अध्यक्ष अपनी यात्रा को सुखद बनाने के लिये अपनी यात्रा में अपने अन्तरङ्गतम जनों को ही सम्मिलित करता है। यथा –

निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोक्ष सुख त्यागि॥

(रा०च०मा० ४.२६)

जो प्रभु के संकीर्तन में रागों के निर्देशक रहे हैं, उन्हें भला संसार के तुच्छ राग लिप्त कर सकेंगे? स्वरकुशलतया रागकर्ताऽर्जुनोऽभूत् (प०पु०उ०ख० १९८.६०)। इस प्रकार शरणागतों के समस्त गुणों से सम्पन्न अत्यन्त प्रत्युत्पन्नमति अर्जुन अब पूर्णरूप से भगवान् पर समर्पित हो चुके हैं और गीताजी के प्रारम्भ से ही उन्होंने अपने रथ के सारथि श्रीकृष्णचन्द्र को ब्रह्म रूप में स्वीकारा, अतः प्रथमतः उन्होंने अच्युत (भ०गी० १.२१) सम्बोधन किया। उनका तात्पर्य था कि जिसके सहायक अच्युत हों, वह कभी च्युत नहीं हो सकता, इसलिये मैं भी च्युत नहीं होऊँगा और पुनः अन्तिम श्लोक में त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत (भ०गी० १८.७३) मानो इस अच्युत सम्बोधन में संकेत कर रहे हैं कि मैं च्युत हो गया पर आप अच्युत ही रहें, किन्तु अब मैंने सम्पूर्ण शरणागति स्वीकार ली है अब मैं कभी भी च्युत नहीं हो सकता। अर्जुन ने विचार किया कि शरणागति में ज्ञानजिज्ञासु को समित्पाणि होकर गुरुदेव के पास जाना चाहिये। यथा –

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मु०उ० १.२.१२)

मैं तो धनुषपाणि हूँ इसलिये धनुष और बाण को फेंक दिया – विसृज्य सशरं चापम् (भ०गी० १.४७)। इस प्रकार सर्वसवमर्थ की शरण स्वीकारी और उनका मोह दूर हो गया – नष्टो मोहः (भ०गी० १८.७३), जीवन में कृतार्थता आ गई, गीताज्ञान-पीयूष से अर्जुन अमर हो गए, भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें भक्त, सखा तथा इष्ट माना। यथा भक्तोऽसि मे सखा चेति (भ०गी० ४.३), इष्टोऽसि मे दृढमिति (भ०गी० १८.६४) इत्यादि। सर्वसमर्थ की शरणागति से अर्जुन का बेड़ा पार हो गया। इसी प्रसंग में दुर्योधन ने भी एक शरणागति स्वीकारी वह पाण्डवों की सेना को देखकर कुछ खिन्न हुआ और आचार्य के समक्ष जाकर पाण्डव-सेना का वर्णन करने लगा – आचार्यमुपसङ्गम्य (भ०गी० १.२) पर दोनों में अन्तर है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आचार्य माना क्योंकि श्रीकृष्ण ही वास्तविक आचार्य हैं – कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् (कृ०अ० १-८)। यथा –

गुशब्दोऽन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकृत्।
अन्धकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥

(तुलना करें स्क०पु०उ०ख०गु०गी० ४४)

गु याने अन्धकार, रु याने नष्ट करने वाला अर्थात् गुरु पद का अज्ञानान्धकारनाशक ही वाच्य है। द्रोण के समक्ष जाकर दुर्योधन ने उन्हें पाण्डवों की सेना को देखने के लिये कहा पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् (भ०गी० १.३)। पर अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से अपने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने का अनुरोध किया एवं यावदेतान्निरीक्षेऽहम् (भ०गी० १.२२) इस वाक्य-खण्ड से स्वयं सेना को देखने की घोषणा की। दुर्योधन के हृदय में विजयी होने की भावना एवं द्वेष-प्रवृत्ति प्रधान थी। अर्जुन के हृदय में कुटुम्ब के प्रति राग था। समर्थ-शरण्य श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन के इस राग को विरक्ति में तथा विरक्ति को अपने चरणकमल की अनुरक्ति में बदल दिया, पर असमर्थ-शरण्य द्रोण दुर्योधन के द्वेष को नहीं मिटा सके, प्रत्युत उसे तोष के बदले आक्रोश ही प्राप्त हुआ। यहाँ जिज्ञासा स्वाभाविक है कि श्रीगीताजी में द्रोण को आचार्य कहा गया है – आचार्यमुपसङ्गम्य (भ०गी० १.२) – तो आचार्य का कर्तव्य है शरणागत को प्रभु के चरणों में जोड़ना, पर द्रोणाचार्य ने ऐसा नहीं किया तो उनका आचार्यत्व कैसे? इस प्रश्न पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्रोणाचार्य शस्त्र-शास्त्र के आचार्य हैं, वे गुरु हैं, सद्गुरु नहीं। शिक्षा तब तक प्रभुचरण-प्रापिका नहीं होती, जब तक उसे दीक्षा का सम्बल नहीं मिलता। दीक्षा भी तब तक प्रभु-प्रेम में स्थायित्व नहीं ला सकती जब तक उसे शिक्षा का अवलम्ब नहीं मिलता, इसीलिये मन्त्र एवं मन्त्रार्थदाता को सद्गुरु कहते हैं –

मन्त्रमन्त्रार्थदातारौ गुरू इत्यभिधीयते॥

(अभियुक्त-वचन)

धनुर्वेद की शिक्षा द्रोणाचार्य ने दुर्योधन को दी है पर वेदार्थभूत परमात्मा का रहस्य वे नहीं बता सके, इसीलिये उन्हें आचार्य एवं गुरु कहा गया न कि सदाचार्य या सद्गुरु। वे गुरु हो सके पर गुरुदेव नहीं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की शरण में जाकर अपने को ही उनका शिष्य माना – शिष्यस्तेऽहम् (भ०गी० २.७), पर दुर्भाग्य से दुर्योधन ने आचार्य के समक्ष जाकर भी अपनी शिष्यता का प्रतिपादन न कर पाण्डवों के सेनापति धृष्टद्युम्न की द्रोणाचार्य के शिष्य रूप में चर्चा की – तव शिष्येण धीमता (भ०गी० १.३)। उसकी दुराशा का अन्त न हुआ और उसके कुटुम्ब पर उसका पूर्ण प्रभाव पड़ा। कर्ण आदि के वीरगति प्राप्त करने पर सञ्जय धृतराष्ट्र को आश्वासन देते रहे –

गते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते।
आशा बलवती राजञ्छल्यो जेष्यति पाण्डवान्॥

(वे०सं० ५.२३)

भीष्म के जाने और द्रोण एवं कर्ण के समाप्त होने के पश्चात् भी शल्य पाण्डवों को जीत लेगें, राजन्! आशा बड़ी ही बलवती होती है। इसीलिये इस युद्ध में दुर्योधन पराजित हुआ और पार्थ विजयी रहे। इस प्रकार अनन्य-शरणागत अर्जुन को प्रभु ने गुह्यतम गीताज्ञान सुनाकर अशुभ से मुक्त किया। तमेव शरणं गच्छ (भ०गी० १८.६२) इस श्लोक में वर्तमान एव शब्द का यही अभिप्राय है। एव शब्द यहाँ अन्ययोगव्यवच्छेदार्थक है, अर्थात् केवल परमात्मा की ही शरणागति स्वीकरणीय है, क्योंकि एकमात्र प्रभु ही शरण हैं, यथा –

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(भ०गी० ९.१८)

भगवान् कहते हैं कि प्राप्त होने योग्य तथा भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी, शुभाशुभ को देखने वाला, सबका वासस्थान और शरण लेने योग्य मैं ही हूँ, तथा सुहृद् एवं उत्पत्ति-प्रलय रूप, सबका आधार और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। यहाँ सुहृद् से स्पष्ट है कि सकल प्राणिमात्र के एकमात्र शरण आनन्दकन्द श्यामसुन्दर ही हैं। अतः भगवान् ने तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत (भ०गी० १८.६२) कहा। यहाँ सर्वभावेन यह पद भी एक अनूठा अर्थ रखता है। सर्वेषां भावः सर्वभावस्तेन सर्वभावेन अर्थात् माता, पिता गुरु आदि समस्त पूज्यभाव से उस परमपिता की शरण में जाओ –

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

(रा०र०स्तो० ३१)

गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जाने दृढ़ सेवा॥

(रा०च०मा० ३.१६.१०)

अर्थात् भगवान् में समस्त संबन्ध-बुद्धि का आश्रय ही सर्वभावेन का अर्थ है। इसी अभिप्राय को माँ सुमित्रा ने श्रीलक्ष्मणजी के समक्ष प्रस्तुत किया है –

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। मानिय सबहिं राम के नाते॥

(रा०च०मा० २.७४.७)

इस प्रकार सर्वतोमुख समर्पण रूप साधन प्रभु को द्रवित कर ही देता है। यही शरणागति का अर्थवाद है।

(६) उपपत्ति

उपपत्ति में तो सम्पूर्ण गीता के अक्षर ही गतार्थ हैं। अर्जुन ने शिष्यभाव से भगवान् की शरणागति स्वीकारी – शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (भ०गी० २.७)। भगवान् ने संकेत किया कि एक भाव से शरणागति स्वीकारने से कार्य नहीं चलेगा, तू सर्वभाव से मेरा शरणागत हो, यहाँ उपपत्ति दी कि तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् (भ०गी० १८.६२)। उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और सनातन परमधाम को प्राप्त होगा। यहाँ युक्ति यही है कि शरणागति के बिना व्यक्ति किसी भी काल में शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता –

बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल॥

(रा०च०मा० ७.१२२क)

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अजामिल, गणिका आदि पतितों ने भगवान् की शरणागति कहाँ स्वीकारी फिर भी उनका उद्धार हुआ? इसका समाधान यह है कि उन्होंने नाम-जप द्वारा मानसी शरणागति स्वीकारी थी। गीताजी के ७वें अध्याय में भगवान् ने शरणागति को माया-महासरिता की नौका बताया है –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(भ०गी० ७.१४)

भगवान् श्रीकृष्ण का मन्तव्य है कि तीनों गुणों से बद्ध शरीर त्रिगुणात्मिका माया से आच्छन्न रहता है, जो लोग मुझ परमात्मा को ही प्रपन्न होते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं।

कृत कर्म का फल अवश्यमेव भोक्तव्य है, पर शरणागति क्रियमाण एवं सञ्चित को नष्ट कर डालती है तथा प्रारब्ध को भी भोगने का सामर्थ्य देकर, शरणागत का जीवन रसमय

कर देती है। न मे भक्तः प्रणश्यति (भ०गी० ९.३१) यही यहाँ उपपत्ति याने युक्ति है। यहाँ वर्णाश्रम भी प्रतिबन्धक नहीं बनता –

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(भ०गी० ९.३२)

भगवान् ने कहा है कि पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि वाले भी जो कोई हों वे भी मेरे शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं।

इसी आधार पर भगवान् रामानन्दाचार्य ने भी सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा (वै०म०भा० १००) का घोष किया। शरणागति के बिना मानव का पतन अवश्यम्भावी है, अतः जटिल बन्धन से मुक्ति-लाभ के लिये एकमात्र शरणागति ही आधार है, और कोई अवलम्ब नहीं। यही तात्पर्य है तमेव शरणं गच्छ (भ०गी० १८.६२) का।

इस प्रकार छहों प्रमाणों की कसौटी पर खरा उतरा गीताजी का शरणागति रूप परम तात्पर्य। अर्जुन प्रभु के चरणों में प्रपन्न होने पर भी अपनी इच्छा की स्वतन्त्रता को न छोड़ पाए – न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह (भ०गी० २.९)। अर्जुन ने कहा, गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा। प्रभु मुस्कुराने लगे – तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत (भ०गी० २.१०)। प्रभु के हँसने का यही तात्पर्य है कि शरण में आने पर भी तुम अपनी इच्छा-सत्ता को नहीं छोड़ पाए, इससे लगता है कि तुम्हें शरण पदार्थ पूर्णरूप से नहीं ज्ञात है, इसीलिये शरण शब्दार्थ के कहने में ही पूरी गीता का वाचन हो गया।

शरणागति के तीन भेद हैं – (१) सात्त्विकी (२) राजसी (३) तामसी। पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं – (१) कायिक (२) वाचिक (३) मानसिक। इस प्रकार शरणागति के नौ भेद हुए, पुनः इन नवों के भी दो-दो भेद हैं – (१) आर्त (२) दृप्त। इन्हीं शरणागति रूप अठारह विधाओं को सुस्पष्ट करने के लिये गीताजी में अठारह अध्यायों का विन्यास हुआ। किं बहुना, अष्टादश पुराण भी इसी शरणागति के अष्टादश भेदों के व्याख्यान हैं। महाभारत के अठारह पर्व भी इन्हीं की व्याख्या में गतार्थ होते हैं। श्रीमद्भागवतजी के अष्टादशसहस्र श्लोकों की योजना में व्यासदेव का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। विशेष क्या कहें शरणागति की इन्हीं अठारह विधाओं की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये पूज्यपाद श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने विश्व साहित्य-कुलशेखर श्रीरामचरितमानस को भी अठारह छन्दों से सजाया। अर्थात् इन्हीं अठारह छन्दों से श्रीरामचरितमानस जैसे प्रभुगुणगणहार को मानो शरणागति की अष्टादश-विधा रूप मुक्ताओं से समलङ्कृत कर दिया।

शास्त्रों ने शरणागति की छः और विधाएँ कही हैं –

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
कार्पण्यमात्मनिक्षेपः षड्विधा शरणागतिः।
अङ्गीकृत्यात्मनिक्षेपं पञ्चाङ्गानि समर्पयेत्।

(ब्र०पु०उ०ख०ल० ४१.७६-७७)

(१) आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः

शरण्य की अनुकूलता का संकल्प यह प्रथम विधा है। शरणागत को अपने शरण्य की अनुकूलता का संकल्प लेना चाहिये। वह अपनी इच्छाओं को अपने साध्य से इतने अधिक अंशों में जोड़ दे कि साधक की प्रत्येक चेष्टा शरण्य के मूक समर्थन से समलङ्कृत हो। कूलं तटं शरण्यस्य दिशा तमनुगतोऽनुकूलस्तस्य भाव आनुकूल्यम् । अर्थात् शरण्य जिस किनारे पर हो, उसी का अनुगमन करना। भाव यह कि उसकी मान्यता के अनुरूप अपने को ढाल देना ही आनुकूल्य है, जैसा कि विभीषण ने गीतावली में कहा है –

सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ जेहि साहिबहि सुहाउँगो।

(गी० ५.३०.१)

ये ही अनुकूलता का संकल्प है।

(२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्

अपने शरण्य की प्रतिकूलता का त्याग, अर्थात् शरणागत को अपने शरण्य के विरुद्ध किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। एक बार सखियों ने राधारानी से पूछा कि आप प्रभु को इतनी प्रिय क्यों हैं? वे वंशी की प्रत्येक धुन में आपका ही नाम बजाते रहते हैं। राधारानी ने शालीनता से उत्तर दिया – सखि! मैं कुछ नहीं जानती केवल इतना करती हूँ कि –

मेरो प्यारो सोइ करे जोई मोको भावे।
मैं हूँ सोई सोइ करूँ जोई वाको भावे॥

यही अनुकूलता का संकल्प एवं प्रतिकूलता का वर्जन है।

(३) रक्षिष्यतीति विश्वासः

शरण्य मेरी रक्षा करेंगे ही, इस प्रकार का दृढ़ विश्वास तीसरी शरणागति है, यथा विभीषणजी सोचते हैं –

शरणागत सुनि बेगि बोलिहैं हौं निपटहि सकुचाउँगो।
राम गरीबनिवाज निवाजिहैं जानिहैं ठाकुर ठाउँगो॥

(गी० ५.३०.२)

श्रीभरतजी का दृढ़-विश्वासपूर्वक उद्घोष भी द्रष्टव्य है। अयोध्यावासियों के समक्ष सात दोहों में प्रस्तुत किये हुए अपने विस्तृत वक्तव्य की समाप्ति में भैया भरत बोल पड़े –

जद्यपि जनमु कुमातु ते मैं शठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहैं मोहि रघुबीर भरोस॥

(रा०च०मा० २.१८३)

(४) गोप्तृत्ववरणम्

गोपायति रक्षतीति गोप्ता रक्षिता तस्य भावो गोप्तृत्वं रक्षकत्वं तस्य वरणं गोप्तृत्ववरणम् । गोप्तृत्व याने रक्षकत्व अर्थात् रक्षक का वरण करना। भगवान् ही हमारे रक्षक होंगे इसी भावना का परिष्करण गोप्तृत्व का वरण है। जैसे कन्या पति को वरण करके कृतार्थ हो जाती है, उसी प्रकार जीव प्रभु को वरण करके कृतार्थ हो जाता है। मीरा गोपाल का वरण कर मरण-भय से मुक्त हो गई और डिंडिम घोष से बोल पड़ीं –

ऐसो बर को को बरे जो जनमे औ मरि जाय।
मीरा बरे गोपाल को चूड़ो अमर हो जाय॥

उपनिषद् में भी कहा है यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (क०उ० २.२३)। यथा व्रजबाला दृढ़स्वर में कहती हैं –

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

(उ०नी०म० १४.३४)

चाहे श्रीकृष्णचन्द्र असुन्दर हों या सकल-सुन्दर-शिरोमणि, चाहे वे गुणों से विहीन हों या निखिल गुणगणराशि, चाहे मुझपर द्वेष करते हों या अहैतुक करुणापरायण हों, पर मेरे तो एकमात्र वे ही नन्दनन्दन, नटवर, नटनागर व्रजेन्द्रनन्दन, व्रजचन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं।

(५) कार्पण्यम्

ईश्वर के समक्ष अपनी दीनता को प्रकट करना ही कार्पण्य है। कार्पण्य के बिना व्यक्ति कालकृपाण से नहीं बचता और न ही उसपर बरसती है भगवत्कृपा-कादम्बिनी। क्योंकि भगवान् को दैन्य प्रिय है। जिसके पास जो वस्तु नहीं होती है, वही उसे प्रिय हुआ करती है। प्रभु के पास सब कुछ है किन्तु दीनता नहीं, अतः भगवान् वाल्मीकि ने उन्हें अदीनात्मा विचक्षणः (वा०रा० १.१.१५) कहा है। इसीलिये गोपी ने भ्रमरगीत में प्रभु को कृपण-पक्षपाती कहा – अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः (भा०पु० १०.४७.१५)। संस्कृत साहित्य में कृपण शब्द बह्वर्थक है। कृपण याने कंजूस, लोभी, पापी इत्यादि। इन अर्थों के होने पर

भी वैष्णवशास्त्र में कृपण शब्द अकिञ्चन के लिये भी प्रयुक्त हुआ है, इसलिये भगवान् को कृपणवत्सल (भा०पु० १.४.२४, ७.९.१६, ७.१०.१७) कहा गया है। अत एव श्रीमद्भागवत में महर्षि नारद ने अपने पूर्व शरीर की माँ दासी को कृपणा याने बेचारी शब्द से अभिहित किया है – सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालनोदितः (भा०पु० १.६.९)। अहो! अन्यत्र कार्पण्य दूषण है यथा, कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (भ०गी० २.७) किन्तु परमेश्वर शरणागति में कार्पण्य भूषण है, अतः वैष्णव आचार्यों ने इसे पाँचवीं शरणागति माना है। विभीषणजी के शब्दों में – कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिनु मोलही बिकाउँगो (गी० ५.३०.४)। वैसे ही गोपाल प्रेम की ममीरा लगाई हुई मीरा करुणस्वर में गा पड़ीं – श्याम म्हने चाकर राखो जी।

(६) आत्मनिक्षेपः

भगवान् के श्रीचरणपङ्कज में सर्वभावेन आत्मसत्ता-सहित अपने को डाल देना ही आत्मनिक्षेप है। जैसे गोपीभावापन्न परम भागवत श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक के अन्तिम श्लोक में कहा है कि –

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

(शि०अ० ८)

चाहे प्रभु मेरा आलिङ्गन करें या चरणनिरत मुझको अपने कठोर प्रहार से पीस डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत कर डालें – जो कुछ भी करें, पर मेरे प्राणनाथ तो वही श्यामसुन्दर सर्वसर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। इस श्लोक में कितना दिव्य आत्मनिक्षेप परिलक्षित है। भगवद्भक्त भावुकों ने कुछ अन्य दार्शनिकों की भाँति आत्मा को परमात्मा का औपाधिक अंश नहीं स्वीकारा है। जहाँ कुछ अन्य दार्शनिक परमात्मा को महाकाश एवं आत्मा को उनके औपाधिक अंश घटाकाश के रूप में स्वीकारते हैं, वहीं वैष्णव महानुभाव परमात्मा को पिता एवं आत्मा को पुत्ररूप में स्वीकारते हैं –

हरि जननी मैं बालक तोरा। काहे न अवगुन बकसब मोरा॥

यह कहकर परम वैष्णव संत श्रीकबीरदासजी भी प्रभु से क्षमा-प्रार्थना कर रहे हैं। आज यही दुर्भाग्य का विषय है, कि परमवैष्णवकुलतिलक, साक्षात् राघवेन्द्रविग्रह रूप, भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य के कृपापात्र परम रामभक्त संत श्रीकबीरदासजी को लोगों ने निर्गुणवादी रूप में स्वीकारा। जबकि वे अनन्यनिष्ठ सगुणपक्ष के समर्थक एवं परमभावुक रामभक्त तथा सर्वतोभावेन श्रीमद्रामानन्दाचार्य के चरणचिह्नों के अनुयायी थे। यथा –

- माँगत कबीरा बारंबारी। मोहि भवसागर तार मुरारी॥
- हरि मोर पिव मैं राम की बहुरिया॥

- निर्गुन ब्रह्म है बाप हमारो सगुन ब्रह्म महतारी।
  काको काको नमन करूँ मैं दोनों पलड़ा भारी॥
- कबीर कुतुवा राम का मोतिया मेरो नाँव।
  गले राम की साँकड़ी जित खैंचे तित जाँव॥

अस्तु, कुछ इतर दार्शनिकों के मत में जैसे महाकाश एवं घटाकाश में कोई भेद नहीं है, वैसे ही परमात्मा एवं जीवात्मा में कोई भेद नहीं। उनका अभिप्राय यह है कि शुद्ध आकाश तो एक ही है, पर उसका जितना अंश घट से घिरा हुआ हो उसी को घटाकाश कहा गया। अतः घटाकाश एवं महाकाश का भेद औपचारिकतया सिद्ध हुआ, परन्तु घटरूप उपाधि का नाश होने पर जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में समाहित हो जाता है, तद्वत् अज्ञान की उपाधि से अविच्छिन्न चेतन जो अब तक जीव रूप में पृथक् भासता था वही अज्ञान के नष्ट हो जाने पर ब्रह्मीभूत होकर अपृथक् हो गया। किन्तु विचार करने पर इस युक्ति में कोई भी सार-तथ्य नहीं प्रतीत होता। विशुद्ध चेतनघन परमात्मा में माया का आवरण कैसा? यथा –

राम सच्चिदानन्द दिनेशा। नहिं तहँ मोह निशा लवलेशा॥
सहज प्रकाशरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥

(र०च०मा० १.११६.५-६)

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

(भ०गी० ५.१५)

इत्यादि गीताजी के वचन जीवनिहित-सखण्ड-विषयक हैं, अर्थात् जीव में रहनेवाला सखण्ड ज्ञान ही माया से आवृत होता है, न कि अखण्डित ज्ञान अधिकरण परम पिता परमात्मा –

ग्यान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर॥

(रा०च०मा० ७.७८.४)

मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म॥

(रा०च०मा० ३.४१क)

ब्रह्म कभी भी माया से घिरता नहीं। पुनः प्रश्न किया जा सकता है कि गोस्वामीजी ने श्रीमानसजी में ब्रह्म को मायाच्छन्न क्यों कहा है यथा –

धूमेनाऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनाऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

(भ०गी० ३.३८)

जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे जेर से गर्भ ढका हुआ है, वैसे ही उस माया के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है। यहाँ मायाच्छन्न का तात्पर्य दर्शक की दृष्टि में है, जैसे अनन्त-योजनायत सूर्यनारायण को लघु बादल कभी भी घेरने में सक्षम नहीं होता

वह द्रष्टा की दृष्टि को ही आवृत करता है, पर देखने वाला मोहवश सूर्यनारायण को मेघ से आवृत मान लेता है। यथा –

जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥

(रा०च०मा० १.११७.२)

ठीक उसी प्रकार माया से हमारा ज्ञान आवृत होता है, न कि आदित्यरूप परमात्मा। श्रीगीताजी में भी सखण्ड-ज्ञान एवं अखण्ड-ज्ञान का भेद बड़ी ही चतुरता से किया गया है। जीवगत ज्ञान को भगवान् ने आदित्यवत् कहा यथा तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् (भ०गी० ५.१६)। उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाश देता है, अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को साक्षात् कराता है। वति प्रत्यय सादृश्य अर्थ में होता है – तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (पा०सू० ५.१.११५)। आदित्येन परमात्मनाऽखण्डज्ञानेन तुल्यमित्यादित्यवत्। अर्थात् आदित्य के समान। ईश्वर के लिये आदित्य का प्रयोग है, यथा आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् (भ०गी० ८.९)। यहाँ सूर्य के सदृश नित्यचेतन प्रकाश रूप ईश्वर अर्थात् अखण्डज्ञान आदित्य है, और जीव का आदित्यगत ज्ञान आदित्य याने सूर्य के सदृश है। पुनः जिज्ञासा हो सकती है कि गीताजी के निम्न श्लोक में भगवान् ने अपने को योगमायासमावृत क्यों कहा? यथा –

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

(भ०गी० ७.२५)

इस जिज्ञासा का समाधान भी बहुत स्पष्ट है कि भगवान् अपने को योगमायासमावृत कह रहे हैं न कि अविद्यासमावृत। भगवान् अविद्या से नहीं घिरते, वे तो योगमाया रूपिणी आह्लादिनी शक्ति सीता किंवा राधारानी के हृदयाञ्चल में समावृत रहते हैं। संस्कृत में योगमाया शब्द के व्युत्पत्ति के बल पर कई अर्थ किये जाते हैं। योगेषु योगिजनेषु माया कृपा यस्याः सा योगमाया। अर्थात् योगी जनों पर जिनकी अहैतुकी कृपा होती है उन्हीं सीता एवं राधारानी को योगमाया कहते हैं। योगाय भगवच्चरणसंयोगाय माया प्रेरणा यस्याः सा योगमाया। अर्थात् भगवच्चरणारविन्द के संयोग के लिये जीव को जो सतत प्रेरणा देती हैं, वही जनकनन्दिनी जानकी या वृषभानुनन्दिनी राधिका योगमाया हैं। उनके हृदय-अजिर में प्रभु का समावृत होना स्वाभाविक है, न कि मिथ्या माया में आवृत होना। इसलिये यह पक्ष नितान्त साररहित है। ठीक इसी भाँति मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म (रा०च०मा० ३.४१क) में प्रयुक्त माया शब्द योगमाया परक भी कहा जा सकता है।

दूसरी विप्रतिपत्ति यह भी है कि यदि वे घटाकाश की भाँति जीव को ब्रह्म से पृथक् मानते हैं, तो यह भेद उनकी दृष्टि में औपचारिक हुआ, क्योंकि उपाधि अनित्य होती है अर्थात् घटोपाधि के नष्ट होने पर घटाकाश का नष्ट होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार अज्ञानोपाधि के

निरस्त होने पर जीव भी नष्ट होगा, तो गीतावचन का विरोध होगा, क्योंकि गीताजी में ब्रह्म एवं जीव दोनों को सनातन माना गया है। यथा –

(१) ब्रह्म – सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ (भ०गी० ११.१८)

(२) जीव – ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (भ०गी० १५.७)

इस प्रकार गीता-वचन के अनुसार जीव सनातन ब्रह्म के सनातन अंश का जन्य अर्थात् पुत्र है। अपि च – अमृतस्य पुत्राः (श्वे०उ० २.५)। इस प्रकार गीता-वचन के अनुशीलन से यह विषय सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि जीव ब्रह्म का औपाधिक अंश नहीं अपितु सनातन अंश है। अतः स्वरूपतः जीव ब्रह्म से सदा भिन्न है, और नित्य सहचर होने के संबन्ध-निबन्धनात्मक एकता की दृष्टि से वह सदा अभिन्न भी है। ब्रह्म जीव का सखा है। भगवान् ने गीताजी के पाँचवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में अपने को सम्पूर्ण भूतों का सुहृद् कहकर सम्बोधित किया है – सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति (भ०गी० ५.२९)। मेरा भक्त मुझे सम्पूर्ण भूतप्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी मित्र ऐसा जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सुहृदय शब्द को मित्र अर्थ में सुहृद् आदेश होता है यथा सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः (पा०सू० ५.४.१५०)। इस प्रकार भगवद्वाक्य से भी स्वरूपतः जीव का ब्रह्म से पार्थक्य सिद्ध हुआ। जैसे अभिन्न मित्र एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार ब्रह्म एवं जीव एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। अतः एक ही शरीर में अन्तर्यामी-रूप परमात्मा एवं देही रूप शरीरगामी आत्मा ये दोनों साथ ही विराजते हैं। गीता में इस तथ्य के प्रमाण शब्दतः एवं अर्थतः स्पष्ट हैं। जीवात्मा प्रत्येक प्राणी के शरीर में निवास करता है, इस विषय को भगवान् स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं –

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

(भ०गी० २.३०)

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही विराजमान एवं अवध्य है, इसलिये सम्पूर्ण भूतप्राणियों के लिये तू शोक करने योग्य नहीं है। अभिप्राय यह है कि यह जीवात्मा सदैव सम्पूर्ण प्राणिमात्र के शरीर में रहता है, देह के बिना इसकी कहीं सत्ता नहीं है। जीवात्मा और परमात्मा का वैलक्षण्य इतना ही है कि जीवात्मा अपने प्रारब्ध से बने हुए अपने सप्तधातवीय शरीर में ही रहता है और परमात्मा अन्तर्यामी रूप से उसके शरीर में तथा भक्त की भावनानुसार पञ्चभूतातीत स्वेच्छामय शरीर में भी निवास करते हैं। प्रभु जीवात्मा के मित्र हैं, मित्र एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते। जीव भी प्रभु के बिना अपनी सत्ता नहीं रख पाता, अतः उसे भगवान् प्रेम एवं जगत्-यात्रार्थ दिव्य शक्ति देने के लिये उसके प्रारब्धमय शरीर में उसी के साथ अन्तर्यामी रूप से रहते हैं। यथा –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(भ०गी० १८.६१)

हे अर्जुन! काल-कर्म-स्वभाव गुणात्मक यन्त्र पर आरूढ़ सम्पूर्ण भूतप्राणियों को अपनी माया से भ्रमण कराते हुए ईश्वर, सम्पूर्ण भूतों के हृदय में निवास करते हैं। इन दोनों वचनों से कण्ठरवेण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने ईश्वर एवं जीव का भेद स्पष्ट कह दिया। इतनी सामग्री के होने पर भी बाल की खाल निकालना तथाकथित मनीषियों के आग्रह एवं बुद्धिवाद का व्यायाम समझा जाएगा। जीव का भगवान् से अविनाभूत संबन्ध है –

- ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती (रा०च०मा० १.२०.४)
- न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् (भ०गी० १०.३९)
- नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् (क०उ० २.२.१३, श्वे०उ० ६.१३)

इस प्रकार जीव एवं परमात्मा के स्वरूपतः भेद प्रतिपादन में सहस्त्रों श्रुतियाँ, स्मृति-वाक्य, इतिहास-वाक्य एवं पुराणाख्यान प्रमाण में उपन्यस्त किये जा सकते हैं। किन्तु किं सुज्ञेषु बहुना की दृष्टि से यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है। गीताजी की पात्र-परिस्थिति का अनुशीलन करने से इस विषय को अधिक स्पष्टतया समझा जा सकता है। महाभारत के व्याज से भगवान् वेदव्यासजी ने सामान्य प्राणियों के हितार्थ दुरूह वेद के अर्थ को सरलतया स्पष्ट किया, यथा भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः (भा०पु० १.४.२९)। इसी वेदार्थभूत महाभारतरूप पङ्कज का मकरन्द है श्रीगीता, अर्थात् महाभारत वेद का अर्थ है एवं श्रीगीता वेद का परम तात्पर्य। यदि वेद भगवान् का आशय जीव ब्रह्म की स्वरूपतः एकता में होता तो श्रीगीता में उसकी चर्चा क्यों न होती? आइये, इस विषय की स्पष्टता के लिये एक वैदिक मन्त्र पर बालबुद्धि से विचार करें।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक मन्त्र है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ०वे०सं० १.१६४.२०)

अर्थात् दो सुन्दर पक्ष वाले, एक ही साथ रहने वाले, अभिन्न मित्र समान रूप से वृक्ष को आलिङ्गित किये हुए हैं। उन दोनों में एक स्वादयुक्त पीपल के फल को खाता है और दूसरा न खाता हुआ भी स्वस्थ सुशोभित रहता है। यह सैद्धान्तिक विषय यहाँ एक रूपक के व्याज से प्रस्तुत किया गया है। यह संसार एक वृक्ष है जिस पर एक-साथ रहने वाले अभिन्न मित्र,

सुन्दरपक्षों वाले दो पक्षियों की भाँति ब्रह्म एवं जीव विराज रहे हैं। ये दोनों पक्षियों की भाँति गतिशील एवं एक-साथ रहने के कारण अनन्य मित्र हैं। उनमें से जीव रूप पक्षी संसार रूप पीपल के फल का भोक्ता है, दूसरा ब्रह्म रूप पक्षी कुछ भी भोग न स्वीकार करता हुआ स्वस्थ रहता है। इस मन्त्र का विचार करने पर कोई भी सहृदय जीवात्मा एवं परमात्मा के पारस्परिक संबन्ध को सहजतया समझ सकता है। परमात्मा जीव को अपना मित्र मानते हैं और जीवात्मा परमात्मा को अपना स्वामी। श्रीमानसजी में प्रभु श्रीराम अयोध्या के बालकों को अपना मित्र मानते हैं –

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥

(रा०च०मा० १.२०४.१)

बाल सखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच राम पहँ जाहीं॥

(रा०च०मा० २.२४.१)

किन्तु वे श्रीराघव को अपना स्वामी ही मानते हैं –

सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

(रा०च०मा० २.२४.६)

वेद के इस रूपक को गीता के प्रमुख पात्र अर्जुन एवं श्रीकृष्ण के जीवनवृत्त से संगत किया जा सकता है। ब्रह्म जीव का सखा है, उसी प्रकार भगवान् कृष्ण अर्जुन के सखा हैं –

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

(भ०गी० ११.४१)

वे दोनों एक साथ ही रहते हैं –

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु॥

(भ०गी० ११.४२)

इसीलिये अतिपरिचयादवज्ञा (शा०प०नी० ८३) की दृष्टि से एक साथ रहने के कारण जीव परमात्मा की उपेक्षा कर देता है। अर्जुन भी इस परिस्थिति से अछूते न रहे और विहार, शयन, आसन, भोजन आदि प्रसंगों में उन्होंने प्रभु का तिरस्कार किया। जीव एवं ब्रह्म की भाँति ये दोनों वृक्ष रूप रथ पर स्थित हैं। शास्त्रों में जीव और ब्रह्म को पक्षी का उपमेय मानकर उन्हीं के अनुकूल शरीर को वृक्ष के रूप में देखा गया है। इस प्रसंग में गीता, भागवत एवं मानस के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं –

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(भ०गी० १५.१)

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥

(भा०पु० १०.२.२७)

अब्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥

(रा०च०मा० ७.१३.५)

यद्यपि इन तीनों रूपकों में सामान्यतः कुछ भेद प्रतीत होता है पर वस्तुस्थिति सबकी एक ही है। ठीक उसी प्रकार उपनिषद् में शरीर को रथ, आत्मा को रथी, बुद्धि को सारथि, इन्द्रियों को घोड़े तथा मनको लगाम माना गया है –

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(क०उ० १.३.३-४)

आज कौरव-पाण्डव का यह द्वन्द्व जीव के समक्ष उठने वाले धर्म एवं अधर्म के संघर्ष को इङ्गित कर रहा है। यहाँ धर्मक्षेत्र ही कुरुक्षेत्र है। क्षेत्र शब्द गीताजी में शरीर के उपमान के अर्थ में आया है – इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते (भ०गी० १३.२)। अर्थात् स्थूलशरीर रूप कुरुक्षेत्र धर्ममय है। यहाँ समुपस्थित हैं कौरव और पाण्डव, जो असत् एवं सत् पक्ष का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, जहाँ दुर्योधन मूर्तिमान् अधर्म है तो वहीं महाराज युधिष्ठिर साक्षात् धर्म के प्रतिरूप हैं। दुर्योधन आसुरी सम्पत्ति में जन्मा है, तो युधिष्ठिर दैवी सम्पत्ति के मानदण्ड हैं। दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र जन्मान्ध एवं उसकी माँ गान्धारी आँख में पट्टिका बाँधकर अपने को अन्धवत् मान बैठी हैं तो वहीं युधिष्ठिर की माँ साक्षात् भगवान् कृष्ण की पितृस्वसा याने बुआ, दिव्यशक्ति सम्पन्न भगवती कुन्ती तथा इनके पिता साक्षात् द्वादशाचार्यों में प्रख्यात भगवान् धर्म हैं। इसीलिये दुर्योधन का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं पितामह भीष्म एवं द्रोण, जो क्रम से क्रोध एवं प्रतिशोध की परिस्थिति से ग्रस्त हैं। इधर युधिष्ठिर का नेतृत्व कर रहे हैं भगवान् कृष्ण एवं पार्थ अर्जुन, जो शरण्य एवं शरणागत, सेव्य एवं सेवक, सद्गुरु एवं दिव्य शिष्य, परमात्मा एवं जीवात्मा, भगवान् एवं भक्त तथा अखण्ड ज्ञान एवं परम वैराग्य के आदर्श हैं। अहा! कैसी विचित्र झाँकी है। एक ओर जहाँ क्रोध एवं प्रतिशोध की भीषण अग्निज्वाला-माला से आकुलित हो रहा है सम्पूर्ण दिगन्तर, वहीं

दूसरी ओर दिव्य बोध की मङ्गलमयी गीतागङ्गा से सरस एवं सजीव हो रहा है धनञ्जय का शुष्कमरुस्थल-मानस-प्रान्तर। आज किरीटमाली अर्जुन का कैसा भागधेय है जिनके रथ की बागडोर सम्भाले हुए हैं त्रिलोकमोहन, सर्वसर्वेश्वर, योगेश्वर, रुक्मिणीरमण, भगवान् वासुदेव। वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता जीवात्मा एवं परमात्मा का मङ्गलमय संवाद है। श्रीकृष्ण गीताजी में श्रीभगवान् के रूप से प्रसिद्ध हैं तो अर्जुन भी एक कुशल जिज्ञासावान् के रूप में, भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्न-पारिजात हैं तो कपिध्वज अर्जुन भी एक निराशा-सम्पन्न प्रपन्न हैं। अर्जुन के हाथ में है दिव्य गाण्डीव जो साक्षात् ॐकारमय है, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने खाण्डववन-दहन के समय इस पराक्रमी पाण्डव के कर में सौंपा है। जिस प्रकार गाण्डीव को प्राप्त कर पार्थ ने शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार सद्गुरु से प्रणव को प्राप्त कर मुमुक्षु आत्मा आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाता है। उनको मिला है दिव्य नन्दिघोष रथ, जिसे भगवान् वासुदेव की कृपा ने सुलभ कराया है। जिस रथ के द्वारा उन्होंने कौरव-सैन्य-सागर को सहजतया पार कर लिया। उसी प्रकार अकारणकरुणावरुणालय प्रभु की कृपा कादम्बिनी से कभी साधक को नन्दिघोष रूप दिव्य नरशरीर प्राप्त हो जाता है तो कभी साधक रूप अर्जुन कौरवसैन्य रूप संसारसागर को पार कर लेता है –

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईश बिनु हेतु सनेही॥

(रा०च०मा० ७.४४.६)

नन्दिघोष शब्द भी हमें बड़े मधुर अभिप्राय की ओर संकेतित करता है। नन्दयतीति नन्दी। नन्दी घोषो यस्मिन्स नन्दिघोषः। संस्कृत में घोष शब्द का अर्थ ध्वनि होता है। अर्थात् जिसमें परमानन्ददायक दिव्य भजन की नामजपात्मक अव्यक्त ध्वनि हो रही हो वही मानव-शरीर नन्दिघोष रथ बन सकता है और वहीं विराजते हैं प्रपन्न आत्मारूप पार्थ एवं शरणागतभक्त-वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण। नन्दिघोष रथ के घोड़े श्वेत हैं, उसी प्रकार भजन-रस से पवित्र शरीर की इन्द्रियाँ वासना रहित होकर श्वेत अर्थात् निर्मल हो जाती हैं। यहाँ की झाँकी द्रष्टव्य है –

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥

(भ०गी० १.१४)

आज माधव रूप परमात्मा एवं पाण्डव रूप जीवात्मा, श्वेत घोड़े रूप पवित्र इन्द्रियों से युक्त होकर दिव्य-भजन-रसमय नन्दिघोष रथ रूप शरीर में आसीन होकर क्रम से पिपासा एवं करुणामय शङ्ख बजा रहे हैं। धार्तराष्ट्रों को देखकर पार्थ ने धनुष उठाया। वे अपने पुरुषार्थ द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहते थे। उन्हें भरोसा था अपने ॐकारमय गाण्डीव धनुष पर, किन्तु कदाचित् वे भूल-से गए थे उन प्रभु को जिनके कारण यह उन्हें प्राप्त

हुआ इसीलिये प्रारम्भ में कुछ असफलता-सी दृष्टिगोचर हुई। सर्वज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति भी भगवत्कृपा के बिना कृपण ही बना रहता है, अतः अर्जुन ने अपने स्वरूप को कार्पण्य से उपहत सिद्ध किया। जीव की कृपणता को नष्ट करने के लिये उपयुक्त है भगवत्कृपा-कृपाण, पर दैन्य है उसका प्राण। अर्जुन सम्हले और दोनों सेनाओं के बीच में अपने रथ को स्थापित करने के लिये प्रभु से अनुरोध किया –

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।

(भ०गी० १.२१)

अच्युत कहने का तात्पर्य था, आप अच्युत हैं, आप च्युत नहीं होते। अतः आपका मित्र होने के कारण मैं भी च्युत नहीं होऊँगा। मानो भगवान् मूक स्वर में कह रहे थे कि मेरे तत्त्वज्ञान के बिना जीव सदैव च्युत होता रहता है। अतः अच्युतत्व की प्राप्ति के लिये तुझे अच्युतगोत्र अर्थात् शरणागत होना पड़ेगा, क्योंकि मुझे तत्त्व से न जानने वाले ही च्युत होते हैं –

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

(भ०गी० ९.२४)

सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन को कुटुम्ब-मोह हुआ। यही पिप्पलं स्वाद्वत्ति (मु०उ० ३.१.१) की भूमिका है। शत्रु-कुटुम्बियों को देखकर भी आत्मीय-संबन्ध-संस्कार के कारण कौन्तेय के मन में ममता हुई, पर परमात्मा में नित्य समता है अतः अपने प्यारे पुत्रों को नष्ट होते देखकर उनके हृदय में करुणा का लेश भी उत्पन्न नहीं हुआ। अर्जुन पिप्पल के फल को खा रहे हैं और प्रभु अभोक्ता बनकर पिप्पल के मूल पर बैठे हैं, पिप्पलं मूलमाश्रितः (तुलना करें भा०पु० ३.४.८)। अर्जुन बद्ध आत्मा की भाँति अपने को मारने वाला मानते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि मैं गाण्डीव से सबका वध कर सकता हूँ, पर नहीं जानते कि उन्हें इस भूमिका में निमित्तमात्र बनना है, वध करने वाला तो कोई और है। इसी सिद्धान्त की स्पष्टता के लिये भगवान् ने उन्हें पहले आत्मतत्त्व अर्थात् स्वस्वरूप समझाया। सामान्य जीव स्वयं अपने को रथी बनाकर शरीर रूप रथ का सारथि बुद्धि को बना डालता है, पर सौभाग्य है अर्जुन का उन्होंने अपने रथ का सारथि साक्षात् परब्रह्म, परमात्मा, देवेश, श्रीकृष्णचन्द्रजी को बनाया है। उन्हें अपनी बुद्धि पर विश्वास नहीं है। मन भी भ्रान्त हो रहा है – भ्रमतीव च मे मनः (भ०गी० १.३०) इस प्रकार अर्जुन-कृष्ण के संवाद की सूक्ष्म समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा परमात्मा से पृथक् एवं उनका दास है –

दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावश्च सदा स्मर॥

(तुलना करें अ०स०म०रा०स्तो० ११ और द.वि.हे.नि. १०५)

अर्थात् सभी जीवात्मा निश्चयतः सर्वसर्वेश्वर परमात्मा भगवान् श्रीराम के और उनके अभिन्न स्वरूप गीतागायक पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण के दास हैं। मैं दास हूँ एवं भगवान् श्रीराम और उनके अभिन्न स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण मेरे स्वामी हैं यही स्वभाव है। हे जीवात्मन्! इस तथ्य को सतत स्मरण रखो। यही गीता के स्वभाव का तात्पर्य है जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताजी के अष्टम अध्याय के तृतीय श्लोक में स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते (भ०गी० ८.३) कहकर व्याख्यायित किया है। कार्पण्य-दोष के कारण कुन्तीनन्दन अर्जुन इसी सेवक-सेव्य-भाव रूप स्वभाव को भूलकर स्वयं स्वामी बनकर भगवान् श्रीकृष्ण को यह आदेश दे बैठे कि हे अच्युत! आप दोनों सेनाओं के बीच मेरा रथ खड़ा कर दीजिये – सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत (भ०गी० १.२४)। श्रीअर्जुन इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्वयं कहते हैं कि हे प्रभु! कार्पण्य-दोष ने मेरे मन में वर्तमान सेवक-सेव्य-भाव को नष्ट कर दिया है। समस्त सृष्टि भ्रम के तन्त्र में बंधी होने के कारण प्रभु की दास है। इस प्रकार परिस्थिति-पर्यालोचना से जीवात्मा का परमात्मा से कथमपि स्वरूपतः अभेद सिद्ध नहीं हो पाता है, इसलिये अन्ततोगत्वा जीवात्मा के शरण्य परमात्मा हो ही जाते हैं जैसे विभिन्न नदी, नद, तडागों से बहता हुआ जल अन्त में जाकर महासागर को प्राप्त करके शान्त होता है, उसी प्रकार विभिन्न योनियों में दिग्भ्रान्त यह जीव अन्त में परमात्मा के पादारविन्द को प्राप्त करके ही सुखी होता है –

सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होई अचल जिमि जिव हरि पाई॥

(रा०च०मा० ४.१४.८)

श्रीगीताजी के ७वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने परा एवं अपरा प्रकृति का व्याख्यान किया है –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(भ०गी० ७.४-५)

हे अर्जुन! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, तथा मन, बुद्धि और अहंकार – ऐसे यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। सो यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा है अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरी को मेरी जीव रूप परा अर्थात् चेतन प्रकृति जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। यहाँ प्रभु ने अष्टधा प्रकृति माया को अपरा एवं जीवभूता प्रकृति को परा कहा। स्पष्ट है परमेश्वर को प्रकृति से पर माना जाता है – पुरुषः स परः पार्थ (भ०गी० ८.२२)। यदि जीवात्मा एवं परमात्मा का

एकत्व माना जाए तो प्रकृति एवं प्रकृतिपर में कोई अन्तर न रह सकेगा। जबकि भगवान् ने अपने को प्रकृति से पर बताया। गीता के १५वें अध्याय में भगवान् ने पुरुषोत्तम शब्द की व्याख्या की है – पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः। पुरुषों में उत्तम को पुरुषोत्तम कहते हैं। उत्तम शब्द बहुवचन के बिना नहीं होता और बहुवचन में न्यूनतम सङ्ख्या तीन अपेक्षित है। अनिर्धारिते बहुवचनं त्रित्वे पर्यवस्यति। अतः उत्तम शब्द की मर्यादा के लिये तीन पुरुषों का होना नितान्त आवश्यक होगा, इसीलिये भगवान् ने श्लोक में दो पुरुषों के नाम कहे –

(१) क्षर – अर्थात् प्रकृति और तत् निर्मित पदार्थ।

(२) अक्षर – अर्थात् कूटस्थ शरीर में रहने वाला जीवात्मा।

इन क्षर एवं अक्षर पुरुष से परे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमात्मा हैं –

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

(भ०गी० १५.१७)

यहाँ स्पष्ट तीन पुरुषों का निर्देश होने से जीवात्मा एवं परमात्मा में स्वरूपतः अभेद कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

इसी प्रकार गीताजी में बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं। यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया। इस उपबृंहण से गीताजी के श्लोकों के द्वारा स्वतः स्पष्ट होता है कि आत्मा परमात्मा का अंश अर्थात् पुत्र है और उसका निक्षेप परमात्मा के श्रीचरणों में आवश्यक है, यही आत्मनिक्षेप का वास्तविक भाव है, क्योंकि समस्त जीव-मात्र के शरण सकलचराचराधीश, सर्वाधिष्ठान, श्रीराघव एवं श्रीमाधव हैं, इसीलिये गीताजी के ९वें अध्याय के १८वें श्लोक में प्रभु ने निवासः शरणं सुहृत् कहा।

ये छहों शरणागति की विधाएँ गीताजी के प्रमुख श्रोता भगवत्पादपद्म-प्रपन्न अर्जुन में संगत हो जाती हैं। अर्जुन शब्द का अर्थ है अर्जनशील याने जो इकट्ठा करता हो। इन्होंने सम्पूर्ण वैष्णवोचित गुण अपने व्यक्तित्व में इकट्ठे कर लिये हैं अर्जयतीत्यर्जुनः। अब तक प्रभु को सारथि बना रखा था इसलिये रथी अर्जुन का आसन प्रभु से ऊँचा था, किन्तु अब धनुषबाण को त्यागकर प्रभु की शरणागति स्वीकार कर रहे हैं। समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमभिगच्छेत् अर्थात् समित् को हाथ में लेकर वेदाध्ययनशील को श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव के निकट जाना चाहिये। जैसे कि मुण्डकोपनिषद् में स्वयं भगवती श्रुति आज्ञा देती हैं – कर्म द्वारा अर्जित लोकों की परीक्षा करके नित्य ब्रह्म अनित्य संसार के साधनों से नहीं प्राप्त किया जा सकता इस निश्चय से ब्रह्म-जिज्ञासु वेदाध्ययनशील ब्राह्मण संसार के प्रपञ्चों से विरक्त हो जाए तथा उस परब्रह्मतत्त्व के अनुभव के लिये हाथ में समिधा लेकर वह ब्रह्मनिष्ठ वेदवेदाङ्ग के पारङ्गत सद्गुरु की शरण में जाए। यथा –

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मु०उ० १.२.१२)

इस श्रुति-वाक्य की एकवाक्यता भी अर्जुन ने अपने कर्तव्य से निभा दी। उन्होंने विचारा कि समित्पाणि होकर गुरुदेव की शरण में जाना चाहिये मैं तो धनुष्पाणि हूँ इसलिये धनुष को फेंक दिया। गुरु को श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। यहाँ तो सौभाग्य से सकलवेदमय, परब्रह्म, परमात्मा ही गुरुदेव की भूमिका निभा रहे हैं। अब इस मङ्गलमय अवसर का अर्जुन क्यों न लाभ उठाएँ? जीवन में जागृति आई। परमगुह्यतम शास्त्र का श्रवण करना है इसलिये शस्त्र का त्याग कर दिया।

आज प्रणव रूप धनुष एवं शर रूप आत्मा का न्यास हो चुका है अब लक्ष्यवेधन सम्भव नहीं। अर्जुन कर्तव्य से च्युत हो रहे हैं किन्तु अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है, क्योंकि इन्होंने अच्युत को शरण्य माना है जबकि इससे पहले जगद्गुरु, श्रीवत्सलाञ्छन, पीताम्बरधारी, रथाङ्गपाणि, श्रीकृष्णचन्द्र को अर्जुन ने अच्युत, कृष्ण, केशव, गोविन्द, मधुसूदन, जर्नादन, माधव, वार्ष्णेय, अरिसूदन आदि मङ्गलमय भगवत्परक सम्बोधनों से समर्चित किया है मानो इन नवों विशेषणों से नवद्वारात्मक पुर में रहने वाले भगवान् अन्तर्यामी का भली-प्रकार पूजन हो चुका है।

अब सप्तावरणों को भङ्ग करने के लिये द्वितीय अध्याय के सप्तम श्लोक में छहों प्रकार की शरणागतियों का आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं। ईश्वर को दैन्य अति प्रिय है अतः अर्जुन ने पहले कार्पण्य नामक शरणागति से ही अपनी प्रपत्ति का श्रीगणेश किया। अर्जुन इस समय योद्धाओं की कृपाणों से घिरे हुए हैं, अतः उनसे त्राण पाने के लिये भगवत्कृपा चाहिये जो कार्पण्य के बिना कथमपि सम्भव नहीं। यद्यपि यह कार्पण्य शरणागत का प्रमुख गुण है किन्तु दीनता के बाहुल्य से अर्जुन ने इसे अपना दोष ही माना है। यही वैष्णव का उदात्त व्यक्तित्व है जो अपने को समस्त दोषों का आगार तथा प्रभु को समस्त गुणगणों का भण्डार मानता है, इसीलिये पुण्यश्लोकचूडामणि श्रीभरत अपनी भर्त्सना करते हुए कह पड़ते हैं –

जौ करनी समुझैं प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप शत कोरी॥

(रा०च०मा० ७.१.५)

अर्जुन इसी सरणि का अनुसरण कर रहे हैं। अर्जुन पाँचों पाण्डवों में प्रमुख है। पाण्डवानां धनञ्जयः (भ०गी० १०.३७)। अतः पाँचवी शरणागति से प्रारम्भ करना इनके वंश के अनुकूल ही है, इस प्रकार कार्पण्य का निवेदन करके पुनः आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः और प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् इन दोनों शरणागतियों को एक साथ प्रस्तुत करते हैं। पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः

(भ०गी० २.७) अर्थात् धर्म के विषय में मेरा चित्त सम्यक् प्रकार से मूढ़ हो चुका है इसीलिये आपसे पूछता हूँ कि मैंने आनुकूल्य का संकल्प तो लिया है अब आपके ही अनुकूल रहूँगा यही पृच्छामि एवं प्रपन्नम् की एकवाक्यता है क्योंकि प्रपन्न वही हो सकता है जिसने आनुकूल्य का संकल्प ले लिया हो, अतः पृच्छामि से अर्जुन का यही भाव ध्वनित है। धर्मविरुद्ध कार्य आपके प्रतिकूल हैं। मुझे वे करणीय नहीं क्योंकि मैं प्रातिकूल्य के वर्जन का भी निश्चय कर चुका हूँ पर दुर्भाग्य से धर्म के विषय में मैं कुछ भी नहीं जानता इसलिये पूछता हूँ। धर्मसम्मूढचेतास्त्वां पृच्छामि इस वाक्य से आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः एवं प्रातिकूलस्य वर्जनम् ये दो शरणागति की विधाएँ ध्वनित हुईं।

रक्षिष्यतीति विश्वासः अर्जुन को अब दृढ़ विश्वास हो चुका है कि विषम परिस्थिति में भगवान् वासुदेव मेरी अवश्य रक्षा करेंगे, वे मेरा कभी भी अकल्याण न सोचेंगे अतः प्रेय न पूछकर निश्चित श्रेय का उपदेश करने के लिये निवेदन किया – यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (भ०गी० २.७)। यन्निश्चितं श्रेयः स्यात्तन्मे ब्रूहि। जो निश्चित कल्याण-मार्ग हो उसे ही मेरे लिये कहिये अथवा मेरे लिये जो श्रेयस्कर मार्ग हो उसे निश्चित करके कहिये क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरी कोई रक्षा नहीं कर सकता। जिनसे शस्त्र सीखा वे ही शस्त्र लेकर मुझे मारने को उद्यत हैं। चूँकि आप निःशस्त्र हैं अतः आपसे शास्त्र सीखूँगा। आप निश्चयपूर्वक श्रेय का उपदेश करें। भौतिक रूप से आप मेरे रथ के सारथि हैं। अब आध्यात्मिक यात्रा में भी मेरे जीवन रथ के सारथि बनें। इस भाँति श्लोक के तीसरे चरण में रक्षिष्यतीति विश्वासः इस विधा का भी विधिवत् निर्वाह हो गया।

गोप्तृत्ववरणं तथा। रक्षकत्व का वरण करना। गोपायतीति गोप्ता तस्य भावो गोप्तृत्वं तस्य वरणं गोप्तृत्ववरणम् । रक्षा करने वाले को गोप्ता कहते हैं। उसके भाव, गुण अथवा धर्म को गोप्तृत्व कहते हैं। अहा! कैसा मङ्गलमय स्वर्ण-सौरभ-संयोग है कि अर्जुन ने गोपाल को ही अपना गोप्ता माना। जिस गोपालनन्दन की कृपा-कादम्बिनी ने दावाग्नि से जलते हुए गोपालों को बचाया था, क्या वह शोक-दावानल से दह्यमान अर्जुन को न बचा लेगी? अतः कहते हैं कि शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (भ०गी० २.७) मैं आपका शिष्य हूँ। अभिप्राय यह है कि मैंने आपमें ही गोप्तृत्व का वरण कर लिया है अर्थात् आपको ही गोप्ता, गुरु, रक्षक रूप में चुन लिया है। त्वामेव शिष्योऽहं प्रपन्नः याने गुरुत्वेन गोप्तृत्वेन च वृतवानस्मि, तं प्रपन्नं मां शाधि। प्रभो! अब आपके वृतोऽस्मि कहने की ही देरी है। इस प्रकार शिष्यस्तेऽहम् इस वचन से सर्वतोभावेन गोप्तृत्ववरण सूचित हुआ। उचित समय में अर्जुन ने सद्गुरु का चुनाव किया। जहाँ चारों ओर से शस्त्रों की मेघमाला द्वारा नभोमण्डल घिरा था, वहीं पार्थ प्रभु से गुह्यतम शास्त्रविषयक प्रश्न करने के लिये उद्यत थे। शिष्यस्तेऽहम् यह वाक्य कितना

मनोरम है। यहाँ पार्थ ने गागर में सागर की भाँति अपनी समग्र समर्पण भावना को प्रस्तुत कर दिया। अर्जुन का यहाँ यही अभिप्राय था कि प्रभो! अब तक आप सान्दीपनिजी के शिष्य रहे, आपको कोई शिष्य नहीं प्राप्त हुआ था, संयोग से आपकी कृपा ने मेरे लिये यह मङ्गलमय क्षण प्रदान किया है अब मुझे उचित दिशा दें। मां शाधि मेरे लिये आदेश दें, क्योंकि शिष्यस्तेऽहम् । आचार्यों ने शिष्य शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है –

शरीरं वसुविज्ञानं वासो धर्मान् गुणांस्तथा।
गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः॥

(पूर्वाचार्य वचन, तुलना करें कु०म०त० ३.६९)

जो अपने गुरुदेव की ही प्रसन्नता के लिये शरीर, धन, बुद्धि, वस्त्र, धर्म एवं गुणों को धारण करता है, अर्थात् जो अपने गुरुदेव के अतिरिक्त कोई सत्ता स्वीकारने के लिये तत्पर नहीं है वही शिष्य है। यहाँ अर्जुन का भी अभिप्राय इसी केन्द्र-बिन्दु की ओर है, उनका यहाँ यही मूक निवेदन है कि प्रभु! अब तक मैं अपनी प्रत्येक रक्षणीय वस्तु अपने तथा कुटुम्ब के सुख के लिये धारण करता रहा, अब मेरा कोई नहीं है, अब यह मेरा पार्थिव शरीर सरकार के ही लिये समर्पित है। मैंने कुबेर को जीतकर बहुत सा धन अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर को अर्पित किया, वह भी उन्होंने द्यूत में समाप्त कर दिया, अतः अब मैं अपना प्राणरूप धन साँवले सरकार के ही चरणों में अर्पित करता हूँ। मेरा विज्ञान अर्थात् मेरी बुद्धि सांसारिक परिवेष में फँसकर आसन्नमरण हो चुकी थी, उसे अब मैं आपश्री के परमपावन, पादारविन्द की भ्रमरी बनाना चाहता हूँ। मैंने वस्त्र लोकसंग्रहार्थ धारण किया था, अन्त में मुझे उसे भी छोड़कर वल्कल धारण करना पड़ा। दैवी विडम्बना को वह भी सह्य न हो सका, उसे भी छोड़कर मैं एक वर्ष तक नारी वेष में रहा अतः परिवर्तनशील वस्त्र में क्या लाभ? अब मैं आपकी ही प्रसन्नता के लिये वस्त्र धारण करूँगा। यथा – तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं (गी० ५.३०.४)। अब तक धर्म मेरी मनोवृत्तियों के पोषक रहे। मैंने भ्रातृधर्म, पतिधर्म, पुत्रधर्म, मित्रधर्म, प्रजाधर्म आदि विविध धर्मों का पालन किया, पर उनसे मेरी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बलवती होती गई। मर्यादा-पालनार्थ एक बार असमय में द्रौपदी के भवन में जाने के कारण मुझे द्वादश-वर्षीय वनवास की भीषण विभीषिका भोगनी पड़ी। वहीं चित्राङ्गदा, उलूपी, सुभद्रा आदि दाराओं का संग्रह भी हुआ पर वह सब आपके अनुग्रह में बाधक सिद्ध होता रहा, अतः आज से सम्पूर्ण धर्माचरण आपके संतोषार्थ करूँगा। मैंने अपने पुरुषार्थ से दिव्य-दिव्य व देवोचित गुण प्राप्त किये, अपने उन गुणों के चाकचिक्य से उर्वशी जैसी त्रिलोकसुन्दरी को सहजतया रिझाया, पर अपने उर में बसे प्रभु आपको रिझाने में अब तक सफल न हो सका। अतः आज से मेरे सम्पूर्ण गुण आपकी ही प्रसन्नता के लिये प्रयुक्त होंगे। अब मैं आपके अतिरिक्त किसी को प्रसन्न करने का कोई प्रयास नहीं करूँगा। आप ही मेरे गुरु हैं अतः आप

कृपया मेरे मोहान्धकार पटल को समाप्त करें। यही शिष्यस्तेऽहम् का अन्तर्निहित तात्पर्य है। इस प्रकार अर्जुन ने गोप्तृत्व के द्वारा शाश्वतधर्मगोप्ता प्रभु को अपने संगोपनार्थ वरण कर लिया। गोप्तृत्वरणम् इस पद में तृतीया इत्यादि (पा०सू० २.१.३०) सूत्र द्वारा तृतीया-तत्पुरुष समास संभव हुआ, अर्थात् गोप्तृत्वेन वरणम् गोप्तृत्ववरणम् । आगे चलकर अर्जुन प्रभु को इसी नाम से अभिहित करेंगे – त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता (भ०गी० ११.१८)।

इस प्रकार अर्जुन ने शरणागत की पाँच विधाएँ सम्पन्न कर लीं अब छठी विधा का उपक्रम करते हैं। आत्मनिक्षेप – भगवान् के पदकमलों में अपने-आपको सर्वतोभावेन निक्षिप्त कर देना ही आत्मनिक्षेप है। शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (भ०गी० २.७) – यह वाक्यखण्ड इसी विधा का पोषक है। त्वां प्रपन्नं मां शाधि – अपने चरण में प्रपन्न मुझ शिष्य को उचित मार्ग का अनुशासन दीजिये। अर्जुन का हार्द है कि अब मेरी कोई सत्ता नहीं है, सब कुछ छोड़कर आपके ही चरण-सरोरुहों की मैंने शरण स्वीकारी है। आप जैसा निर्देश करेंगे मैं वही करूँगा। आज मेरी अपनी कोई इच्छा न होगी। प्रपन्न शब्द से यही भाव ध्वनित है।

इस प्रकार अर्जुन में सम्पूर्ण कार्पण्यभाव आ गया और शरणागति की छहों विधाओं को विधिवत् सम्पन्न कर उन्होंने अपने षड्विकारों को ही नहीं नष्ट किया, प्रत्युत जीवमात्र के षड्दोषों को निरस्त करने का स्वर्णिम सोपान प्रस्तुत कर दिया।

इत्थं शास्त्रविचारैश्च श्लोकार्थैर्युक्तिभिस्तथा।
उद्धृतः प्रथमोन्मेषो निबन्धेऽस्मिन्यथामति॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥
॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

द्वितीय उन्मेष

मङ्गलाचरण

क्रीडन् क्रीडनकैः क्रीडां व्रीड्यन् व्रीडां च व्रीडयन्।
प्रीणयन् स्वजनान् रामो राजते राघवः शिशुः॥
नीलपाथोदसङ्काशस्तोत्रपाणिः श्रुतिस्मृतः।
गीतावक्ता विजयते श्रीकृष्णः पार्थसारथिः॥

श्रीमन्मैथिलीरमण, अशरणशरण, भक्तभयहरण, कारणकरण, तारणतरण, प्रणतभय-भञ्जन, सुजनमनोरञ्जन, लोकाभिराम, भगवान् श्रीरामचन्द्रजू की भुवनपावनी कृपा का सम्बल प्राप्त कर अब हम गीतातात्पर्य के अन्तरङ्ग पक्ष पर विचार कर रहे हैं। प्रथम उन्मेष में शास्त्रीय मीमांसा एवं उपक्रमादि प्रमाणों द्वारा तथा वैष्णव दर्शनों की मान्यता के अनुसार विविध-सुयुक्ति-पुरःसर यह विषय सिद्धान्तित किया जा चुका है कि श्रीगीताजी का परम तात्पर्य परमात्मा की शरणागति में ही है। अब पूर्वोक्त सिद्धान्तों के पल्लवन एवं विषय को अधिक सुस्पष्ट करने के लिये भगवद्गुणगणचिन्तन से अपनी दोषग्रस्त बुद्धि को परमेश्वर के चरणारविन्द में तन्मय करने के लोभ से पुनः हम इसी सन्दर्भ में अपनी बाल-विचार-सरणि को अग्रसर कर रहे हैं।

मनीषियों ने जीव के तीन भेद स्वीकारे हैं – बद्ध, मुक्त एवं नित्य। गोस्वामीजी ने भी इन्हें विषयी, साधक एवं सिद्ध शब्द से व्यवहृत किया है –

बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥

(रा०च०मा० २.२७७.३)

बद्ध अर्थात् विषयी जीव निरन्तर विषय-वासना में तल्लीन रहने के कारण भगवान् के मङ्गलमय योग का कभी भी अनुभव नहीं कर पाता। अतः उसे प्रभु का अयोग ही रहता है। मुक्त जीव प्रभु के पादारविन्द का दर्शन करते हैं पर यह दर्शन का सुख सार्वकालिक नहीं होता अतः उनको निरन्तर दर्शन न होने के कारण प्रभु से बिछुड़ने पर वियोग होता है। जैसे मुनिगण कभी-कभी दर्शन करते हैं किन्तु सर्वदा प्रभु का दर्शन शक्य नहीं, अतः उन्हें भी भगवद्वियोग-व्यथा सहनी पड़ती है। प्रभु के कुछ ऐसे भी परिकर हैं यथा लक्ष्मण,

बलराम आदि जिन्हें प्रतिदिन प्रभु-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है किन्तु शयनकाल में उन्हें भी तो प्रभु से अलग होना पड़ता है। पर भगवान् के कुछ ऐसे भी परिकर हैं जो सतत प्रभु के दर्शनामृतसागर में मग्न रहते हैं, वे कभी भी परमेश्वर के पदकञ्ज-मकरन्द के रसास्वादन से विरत नहीं होते। यथा सीता, राधा, रुक्मिणी इत्यादि।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यद्यपि सम्पूर्ण जीव नित्य हैं पर प्रभु के नित्य-साहचर्य की दृष्टि से यहाँ नित्य जीव की पृथक् संज्ञा कही गई। अर्थात् बद्ध जीव एवं मुक्त जीव – ये भी नित्य जीव हैं, पर यहाँ नित्य जीव उन्हीं के लिये प्रयुक्त है कि जो प्रभु के कैंकर्य में निरन्तर लगे रहते हैं। इनको कभी भी अयोग तथा वियोग की व्यथा नहीं अनुभूत होती। इन्हें निरन्तर प्रभु का परमपावन संयोग ही प्राप्त रहता है। बद्ध जीवों के अयोग को तथा मुक्त जीवों के वियोग को नष्ट करने के लिये भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर श्रीगीतायोगशास्त्र का आविर्भाव किया। किं बहुना –

न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥

(उ०नी०म० १५/३)

अर्थात् वियोग के बिना संयोग-सुख की रसानुभूति नहीं होती। इस दृष्टि से कौतुकी कृपालु भगवान् कभी-कभी नित्यसंयोगशालियों के समक्ष भी वचन-वियोग प्रस्तुत करते हैं। यथा वनवास की व्यथा का वर्णन कर राजभवन में ही रहने की आज्ञा देकर श्रीजनकनन्दिनी के समक्ष प्रभु ने वचनवियोग-विडम्बना प्रस्तुत की –

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोग न सकी सँभारी॥

(रा०च०मा० २.६८.१)

इस वियोगाभास को भी दूर करने के लिये नित्यजीवों के भी कल्याणार्थ भगवान् ने गीतायोगशास्त्र का प्राकट्य करते हुए वचन-वियोग को भी निरस्त करने का उपाय कहा। यथा –

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(भ०गी० ८.१४)

यहाँ सततम् शब्द का स्मरति के साथ अन्वय है तथा नित्यशः का अन्वय सुलभः के साथ समझना चाहिये। भाव यह कि जो अनन्यचित्त से मेरा सतत स्मरण करता है उसके लिये मैं नित्यशः सुलभ रहता हूँ। अर्थात् उसका वचन-वियोग भी दूर हो जाता है।

इस प्रकार गीतायोगशास्त्र बद्ध याने विषयी, मुक्त याने साधक, नित्य याने सिद्ध इन

तीनों जीवों के लिये उपयोगी है। यहाँ यह संदेह स्वाभाविक है कि कर्मबन्धन से मुक्त जीव साधक कैसे? मुक्ति रूप साधनफल तो उसने पा ही लिया तो उसके लिये साधना की क्या आवश्यकता? इसका ये समाधान समझना चाहिये कि साधन का फल केवल मुक्ति ही नहीं है अपितु उसका चरम लक्ष्य है भगवत्प्रेम –

जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥

(रा०च०मा० ७.१२६.७)

मुक्त जीव को भी भगवान् के नित्य कैंकर्य तथा प्रभु-प्रेम-पीयूष पाने के लिये भजन आवश्यक है यथा –

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(भा०पु० १.७.१०)

श्रीमद्भागवतजी में श्रीशुकाचार्य की विशेषताओं का वर्णन करते हुए सूतजी शौनकादि से कह रहे हैं कि आत्मा ही जिनका आराम अर्थात् विहारवाटिका है, जिन्होंने अपने हृदय से अविद्या-ग्रन्थि का निरसन कर लिया है, वे परमतत्त्वदर्शी मुनिगण भी भगवान् नारायण के चरणों में निर्हेतुक भक्ति करते हैं – यही श्रीहरि के गुणों का एक अनिर्वचनीय प्रभाव है।

इसलिये गीताजी के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में भगवान् वेदव्यासने योगशास्त्रे शब्द का प्रयोग किया है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ही वियोगी को किंवा अयोगी को योगी बनाने के लिये योगशास्त्र का व्याख्यान करते हैं। इष्टवस्तु के वियोग में ही शोक होता है। अर्जुन को शोक था – शोकसंविग्नमानसः (भ०गी० १.४७), अतः शोकाकुल वियोगी पार्थ को बहुशः योग का आदेश करते हैं, यथा तस्माद्योगाय युज्यस्व (भ०गी० २.५०), तस्माद्योगी भवार्जुन (भ०गी० ६.४६)। अर्जुन! योगी हो जाओ। अर्थात् मेरे चरणों से सदा के लिये जुड़ जाओ। अतः इस गीताशास्त्र में अठारह योग प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया।

गीताजी में व्यवहृत योग शब्द पातञ्जलयोगदर्शन में वर्णित योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (यो०सू० १.२) लक्षण वाला योग नहीं है अपितु इसका तात्पर्य गणित में वर्णित दो वस्तुओं के जोड़ रूप अर्थ में है। अर्थात् गणित की प्रक्रिया की भाँति चिरकाल से वियुक्त जीव जिस प्रणाली से प्रभु के पादारविन्द से जुड़ जाता है उसी पद्धति को गीताजी में योग शब्द से कहा गया। इसी योग को कर्मों का कौशल माना गया – योगः कर्मसु कौशलम् (भ०गी० २.५०)। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी को समत्व की संज्ञा दी – समत्वं योग उच्यते (भ०गी० २.४८)। अर्थात् जब जीवन में समता आ जाती है, तत्काल ममता समाप्त हो जाती है एवं जीव को परमात्मा से मिलने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। यह योग सर्वस्व-समर्पण रूप

भगवच्छरणागति के बिना संभव नहीं। अत एव गीता रूप पद्मिनी का पराग है योग एवं मकरन्द है शरणागति।

अब हम यथाबुद्धि क्रम से प्रत्येक अध्याय की शरणागति-तात्पर्य में संगति सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। सम्प्रति गीता के प्रत्येक अध्याय में वर्णित विषय वस्तुएँ शरणागति के सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जीव के अयोगभूत वियोग को नष्ट करने के लिये इस योगशास्त्र का प्राकट्य हुआ है। श्रीगीताजी में योग की अष्टादश विधाएँ वर्णित हैं, जो शरणागति के अष्टादश भेदों में अपना तात्पर्य रखती हैं।

गीता का प्रथम अध्याय, जो अनेकसम्प्रदायानुसारी आचार्यों द्वारा उपेक्षित-सा रहा, वही वस्तुतः बड़े काम का है, नहीं तो इसे गीता में रखा ही क्यों जाता? यह ग्रन्थ दो मनीषी वक्ताओं के द्वारा दो श्रोताओं को सुनाया गया। प्रथम वक्ता हैं भगवान् श्रीकृष्ण और श्रोता हैं रणभूमि में शोकसमाकुलमानस अर्जुन। द्वितीय वक्ता हैं धृतराष्ट्र के सारथि तथा मन्त्री सञ्जय एवं श्रोता हैं जन्मान्ध, वृद्ध, दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र। अर्जुन के समक्ष विषमताओं के मेघ हैं – चतुर्दिक् जुझारु बाजों के घोष से कायरों के हृदय को आन्दोलित करता हुआ, अश्व, गज एवं वीरों के भीषण निनाद से रणरस प्रतिक्षण एक अपूर्व उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता जा रहा है। इस परिस्थिति में भी रहकर भगवत्कृपा से अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुखचन्द्र से विनिर्गत गीता-पीयूष को पीकर अमरत्व को पा लिया, पर एकान्त राजप्रासाद के शान्तिपूर्ण वातावरण के परिसर में रहकर भी धृतराष्ट्र कुछ न सुन पाए। इसमें तीन हेतु कहे जाते हैं।

(१) प्रथम हेतु यह है कि गीता दिव्य गुह्यतम ज्ञान है जिसे प्राप्त करने के लिये श्रद्धा की परम अपेक्षा है। अर्जुन परम श्रद्धालु हैं अतः उन्होंनें शिष्यस्तेऽहम् (भ०गी० २.७) कहकर भगवान् को आचार्यत्वेन स्वीकार करके समस्त गीता सुनी और अक्षरशः धारण की। धृतराष्ट्र में श्रद्धा का अभाव एवं विवेक रूप नेत्र की शून्यता है, वे इसलिये सञ्जय के प्रति गुरु-बुद्धि नहीं बना सके। अन्ततोगत्वा इसी का परिणाम हुआ कि परम अनुकूल वातावरण में रहते हुए भी गीतामृत की एक बूंद भी न पी सके।

(२) द्वितीय हेतु यह है कि ज्ञानप्राप्ति में स्थान की विशिष्टता भी सहायक होती है। दुर्भाग्य से धृतराष्ट्र को अधर्ममय राजमहल प्राप्त हुआ जिसमें रहकर उन्होंने एवं उनके पुत्रों ने परम भागवत पाण्डवों पर अनेक अत्याचार किये। इधर अर्जुन को धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र प्राप्त हुआ। इस क्षेत्र के प्रभाव से अर्जुन में धर्मबुद्धि का अभ्युदय हुआ। तब उन्हें स्वजन-वध से वैराग्य प्राप्त हुआ, यथा न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च (भ०गी० १.३२)। इन्हें वैराग्यसम्पन्न देखकर महायोगेश्वर श्रीहरि ने योगशास्त्र के प्रवचन के व्याज से अलौकिक ज्ञान प्रदान किया,

यथा इति ते ज्ञानमाख्यातम् (भ०गी० १८.६३)। यही ज्ञान दिव्य मोक्ष का प्रदाता बना और अन्त में अर्जुन सर्वगुह्यतम शरणागति के रहस्य को भलीभाँति समझकर मोह से निर्मुक्त हो सके।

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोक्षप्रद बेद बखाना॥

(रा०च०मा० ३.१६.१)

आशय यह कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र से उन्हें धर्ममूलक वैराग्य की प्राप्ति हुई तथा क्षेत्रज्ञेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र की कृपा से योगसहकृत ज्ञानमूलक दिव्य प्रपत्ति।

(३) तीसरा हेतु यह है कि इस प्रकार के अद्भुत अवसर भगवत्कृपा से उपलब्ध होते हैं –

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुमहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन॥

(रा०च०मा० २.१२७.३-४)

अर्जुन पर भगवान् की अहैतुकी कृपा है क्योंकि वे प्रभु के सख्यभावापन्न एक परम प्रिय भक्त हैं, यथा भक्तोऽसि मे सखा चेति (भ०गी० ४.३)। अतः अर्जुन ने इस गुह्य ज्ञान को यथावत् अवगत कर लिया। धृतराष्ट्र न तो भगवद्भक्त थे, न ही उनपर भगवान् की कोई कृपा थी। उन्होंने राष्ट्र को ही धारण कर लिया था – धृतं राष्ट्रं येन स धृतराष्ट्रः। पर अर्जुन के पास पहले तो कुछ था नहीं, वे निर्वासित थे। धारणार्थ धनुष-बाण उपस्थित भी थे तो उन्हें भी छोड़ दिया – विसृज्य सशरं चापम् (भ०गी० १.४७), और वे विषादयोग को माध्यम बनाकर योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के शरण में आने का उपक्रम करने लगे।

यहाँ श्रोता एवं वक्ता कितने जागरूक हैं। वक्ता हैं हृषीकेश – हृषीकेशं तदा वाक्यम् (भ०गी० १.२१)। हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः इति हृषीकेशः अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय भगवान् श्रीकृष्ण। श्रोता हैं गुडाकेश – गुडाकायाः निद्रायाः ईशः इति गुडाकेशः अर्थात् गुडाका-विजयी याने निद्रा-विजयी अर्जुन। भाव यह कि जैसे समस्त इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण जैसे वक्ता हैं वैसे ही निद्रा-विजयी अर्जुन सरीखे जागरूक श्रोता। क्योंकि कितना भी गम्भीर विषय क्यों न हो यदि श्रोता सावधान न रहा तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता। सभी लोग मोह-निशा में सो रहे थे और अपना बहुमूल्य अवसर खो रहे थे पर गुडाकेश अर्जुन जाग रहे थे। योगी तो कभी सो भी लेता है क्योंकि उसकी निद्रा को योगनिद्रा कहते हैं पर वियोगी क्षण-भर भी नहीं सो पाता –

एहिं जग जामिनी जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

(रा०च०मा० २.९३.३)

अर्जुन ने वास्तविकता समझ ली तथा झट शरणागति का श्रीगणेश किया, उन्हें कर्तव्य-बोध

हुआ और गोस्वामीजी के स्वर में गुनगुनाने लगे –

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।

(वि०प० १०५.१)

संयोग से जगद्गुरु सारथि को प्राप्त किया था। अब अवसर क्यों खोते? सुना है प्रभु रण की भीषण परिस्थिति में ही शरणागत को स्वीकारते हैं, जैसे विभीषण को संग्रामकाल में प्रभु ने अभयदान दिया था –

रावन क्रोध अनल निज श्वास समीर प्रचंड।
जरत विभीषन राखेउ दीन्हेउ राज अखंड॥

(रा०च०मा० ५.४९क)

इसलिये अर्जुन दश प्रकार के विषादरूप दश पुष्पों को लेकर दशमस्त्वमसि के लक्ष्य से परमात्मा के चरणों में शरणागत हो रहे हैं। यहाँ दुर्योधन एवं अर्जुन दोनों ने सेना का अवलोकन किया पर दुर्योधन को राग हुआ एवं अर्जुन को वैराग्य। क्योंकि दुर्योधन अपनी आँखों से देख रहा था पर अर्जुन अपने परमप्रिय सखा भगवान् गोविन्द की प्रेरणात्मक दृष्टि से। उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति (भ०गी० १.२५)। भगवान् ने कहा पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देखो। अर्जुन ने प्रभु के निर्देशानुसार दश सम्बन्धियों को देखा –

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥

(भ०गी० १.२६-२७)

पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पिता के भाइयों को, पितामह को, आचार्यों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। दश रूपों में विभक्त हुए इसी कुटुम्बमोह ने अर्जुन जैसे महापुरुषार्थशाली को दशमस्त्वमसि प्रभु से पृथक् कर दशम दशा के निकट पहुँचा दिया। अज्ञान की इन दश धाराओं ने अर्जुन की दशों इन्द्रियों को शोक-सागर में डुबो दिया। इन्हीं दश विभिन्न वैचारिक परिस्थितियों ने अर्जुन के दशों नामों को निरर्थक सा कर दिया। अर्जुन के दश नाम इस प्रकार हैं –

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनञ्जयः॥

(म०भा० ४.४४.९)

आज आमरण रणकर्कश महापुरुष के समक्ष पूर्ण मरण की परिस्थिति समुपस्थित हो गई।

इन्हीं अन्तर्द्वन्द्वों को लेकर इन्होंने भगवान् को कभी कृष्ण, तो कभी गोविन्द, कभी मधुसूदन, कभी माधव आदि ऐश्वर्यपरक नामों से सम्बोधित किया।

प्रथम अध्याय में भगवान् को अच्युत (१.२१), कृष्ण (१.२८), केशव (१.३१), गोविन्द (१.३२), मधुसूदन (१.३५), जनार्दन (१.३६), माधव (१.३७), और वार्ष्णेय (१.४१) – इन आठ नामों से संकेतित करके वे अपने को आठों प्रकृतियों से मुक्त करना चाहते थे। मानस रोगों ने उनपर भयंकर रूप से आक्रमण कर दिया था। कोई वैद्य नहीं मिल रहा था इन रोगों की चिकित्सा के लिये। उनकी त्वचा में एक तीव्र दाह था – त्वक्चैव परिदह्यते (भ०गी० १.३०)। इस काल में भगवान् सनकजी के वचन का सहारा लेकर इन दुर्निवार्य रोगों को दूर करने का प्रयास किया। भगवान् सनकजी का वचन है कि –

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

(ना०पु० १.३४.६१)

अच्युत, अनन्त, गोविन्द आदि भगवन्नामोच्चारण रूप औषधि से सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं ,यह मैं सत्यप्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। सचमुच इस वचन के अनुसार प्रयोग करने से अर्जुन का मानस रोग नष्ट हो ही गया। शरणागत को शरण्य की शरणागति स्वीकारने के पूर्व कितनी विकलता अपेक्षित है, इसका पूर्ण दिग्दर्शन गीताजी के प्रथम अध्याय में व्यवस्थित है। आचार्यों ने अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं की पोषक युक्तियों के ही स्थलों से गीताजी का व्याख्यान प्रारम्भ किया। प्रथम अध्याय वेदान्त के पाँच सिद्धान्तों के प्रवर्तक आचार्यों द्वारा उपेक्षित रहा।

देखें आज अर्जुन कितने विकल हैं, उन्हें पाप से कितना भय है। गीताजी के प्रथम अध्याय के ३६वें श्लोक में स्पष्ट है उनकी पापभीरुता –

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥

(भ०गी० १.३६)

अर्जुन कहते हैं, हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।

वास्तव में भगवान् की शरणागति का पूर्णतया वही अधिकारी हो सकता है, जिसे अपने वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठा हो। यद्यपि भगवान् पतितों को भी अपनाते हैं पर वह अगतिकगति एवं प्रभु की कृपालुता का प्रतिफल है। अर्जुन करुण स्वर में कहते हैं, राजसुख के लोभ से हम अपने स्वजनों को मारने के लिये उद्यत होकर भयंकर पाप करने के लिये निश्चय कर

चुके हैं –

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

(भ०गी० १.४५)

शरणागति जीव को मरणभय से मुक्त करती है। आज अर्जुन अपने को आसन्नमरण मान चुके हैं, उनका कथन है कि यदि शस्त्ररहित मुझ अर्जुन को धृतराष्ट्रपुत्र रण में मार भी डालें तो मेरे लिये कल्याणकर ही होगा। यहाँ यह ध्यान रहे कि प्रभु की कृपा से मरणागत ही शरणागत हो सकता है। विषाद के इन दशों सुमन-स्तबकों को लेकर अर्जुन प्रभु के चरणों में जाना चाहते हैं पर उनके पास गति नहीं इसलिये रथ के पिछले भाग में बैठ जाते हैं। आज अर्जुन प्रभु के समक्ष विषाद लेकर आए हैं। प्रभु के समक्ष निवेदित किया हुआ विष यदि अमृत हो सकता है, तो क्या उनके समक्ष समानीत विषाद प्रसाद में नहीं बदल सकता? अतः अठारहवें अध्याय में इसी विषाद को प्रभु ने प्रसादरूप में परिवर्तित कर दिया – नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत (भ०गी० १८.७३)। इस प्रकार गीता के प्रथम अध्याय में शरणागति की पूर्वभूमिका का मङ्गलमय दिग्दर्शन कराया गया है।

अब द्वितीय अध्याय से ग्रन्थ-विश्राम पर्यन्त भगवान् शरणागति के स्वरूप का निर्वचन करते हैं, अतः पहले सञ्जय ने उवाच मधुसूदनः (भ०गी० २.१) यही कहा। याने अब भगवान् अपने दिव्य वचनों द्वारा अर्जुन की मोह-मदिरा को समाप्त करेंगे। रथ के पिछले भाग में बैठे हुए तथा क्लीबभावापन्न पृथानन्दन को देखकर भगवान् ने उन्हें उठने की आज्ञा दी – क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप (भ०गी० २.३)। उत्तिष्ठ कहने में प्रभु का शरणागति के लिये एक संकेत है कि मेरी शरण में आने के लिये भी गति चाहिये क्योंकि शरणमागतः शरणागतः अर्थात् शरण में आया हुआ। प्रभु की कृपा भी जीव की किञ्चित् प्रारम्भिक गति की अपेक्षा करती है। कोई शरण में आएगा तब न प्रभु स्वीकारेंगे? अतः बैठने से कार्य न चलेगा। उठो! शरण में आने की भूमिका तैयार करो। अर्जुन ने पहले कह रखा है कि सीदन्ति मम गात्राणि (भ०गी० १.२९) – मेरे अवयव शिथिल हो गए हैं। पर अब कह रहे हैं कि शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (भ०गी० २.७)। मैं आपका शिष्य हूँ मुझे कुछ दिशा निर्देश करें। यद्यपि प्रपन्नम् कहने के पश्चात् अब कुछ भी वक्तव्य अवशेष नहीं था केवल मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६) इतना ही कहने मात्र से अर्जुन के लिये दिशा-निर्देश हो जाता पर अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिये गीता का उपदेश करना चाहते हैं, अतः प्रभु की लीलाशक्ति ने अर्जुन से दो वाक्य कहलवाए – शिष्यस्तेऽहम् (भ०गी० २.७) और गोविन्द न योत्स्ये (भ०गी० २.९)। शिष्यस्तेऽहम् इस

संकीर्ण भावना पर भगवान् सन्तुष्ट न हुए और उनका परिहास सा करने लगे – प्रहसन्निव भारत (भ०गी० २.१०)। भगवान् का यह अभिप्राय है कि तुम प्रपन्न अर्थात् शरणागत तो हुए पर अभी तुम्हें शरणागति के स्वरूप का ज्ञान नहीं है क्योंकि केवल शिष्य-भाव से मेरे चरण में शरणागत होना उचित नहीं है, तुम्हें सर्वभावेन मेरी शरण में आना होगा। अर्जुन का दूसरा वाक्य है न योत्स्ये (भ०गी० २.९) मैं युद्ध नहीं करूँगा। यहाँ इनका अन्तर्मन यह है कि शस्त्र की वर्तमानता में शास्त्र नहीं आते। युध् धातु का अर्थ है एक दूसरे पर प्रहरण करना। युधँ सम्प्रहारे (धा०पा० ११७३)। जहाँ संप्रहार होता है वहाँ पाप का परिहार नहीं होता। इस पर भगवान् को यह आपत्ति है कि यदि तुम मेरी शरण में आ ही गए तो तुम्हें अपनी स्वतन्त्र इच्छा के पालन का क्या अधिकार? अब तो शरण्य की इच्छा ही तुम्हारी इच्छा होनी चाहिये, पर अपने को तुम अभी स्वतन्त्र मानकर युद्ध नहीं करूँगा इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान के साथ प्रतिज्ञा कर रहे हो। इससे यही प्रतीत होता है कि अभी तुम शरणागति का रहस्य नहीं जानते। अतः आओ अब शरण्य, शरण एवं शरणागति का स्वरूप समझो।

इन्हीं तीनों स्वरूपों की चर्चा के क्रम में भगवान् ने पूर्व के छः अध्यायों में शरण का स्वरूप समझाया, पुनः मध्य के अध्यायषट्क में शरणागति का स्वरूप स्पष्ट किया एवं पश्चात् तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक शरण्य का स्वरूप निर्वचन किया। भगवान् श्रीकृष्ण गीतोपदेश का प्रारम्भ अकार से कर रहे हैं अशोच्यान् (भ०गी० २.११) क्योंकि अकार भगवद्वाचक है। अशोच्यान् शब्द में नञ्समास हुआ है, इससे निषेध सूचित होता है। निषेध से उपक्रम करके मा शुचः (भ०गी० १८.६६) इसी निषेध-वचन से उपसंहार करेंगे। क्योंकि प्रतिषेधाश्च बलीयांसः (भा०पा०सू० १.१.६३) अर्थात् असत्कर्मों से निषिद्ध करके अर्जुन को सत्कर्म में प्रवृत्त करना है। इसीलिये भगवान् ने निषेध से ही उपक्रम एवं उपसंहार किया। भगवान् मा शुचः (भ०गी० १८.६६) इस निषेध-वाक्य के साथ ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं तो अर्जुन करिष्ये वचनं तव (भ०गी० १८.७३) इस विधि-वाक्य से भगवान् वासुदेव की शरणागति स्वीकार करते हैं।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् (भ०गी० २.११) अर्थात् तुमने अशोच्यों के विषय में शोक किया है, यह शरणागत का कर्तव्य नहीं है। शरणागत तो अपने प्रभु के पादारविन्द में सर्वस्व-समर्पण कर निश्चिन्तता की नींद सोता है। यथा –

प्रसाद रामनामके पसारि पाँव सूतिहौं।

(क० ७.६९)

सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥

(रा०च०मा० ४.३.४)

पर तुम रो रहे हो। इसका अर्थ है तुम्हें अपने शरण्य में विश्वास नहीं अथवा शरण्य के सामर्थ्य का ज्ञान नहीं। ये अशोच्य हैं क्योंकि ये संग्राम में तुम्हारे शस्त्रों से पवित्र होकर परमगति को प्राप्त हो जाएँगे, यथा पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य (भा०पु० ३.२.२०)। शरणागति का प्राण है सेवक-सेव्य-भाव। इसके बिना शरण्य एवं शरणागति का भेद नहीं सिद्ध हो सकता। भेद के बिना भक्ति सम्भव नहीं। अतः शरणागति में सर्वप्रथम अनात्मा, आत्मा एवं परमात्मा का ज्ञान आवश्यक है। इसी सिद्धान्त का १२वें श्लोक से लेकर ३८वें तक वर्णन कर रहे हैं। शरीर अनात्मतत्त्व है, उसमें निहित चेतन आत्मतत्त्व है, उसके साथ वर्तमान अन्तर्यामी चेतनघन परमात्मतत्त्व है। यथा –

(१) अनात्मतत्त्व –

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम शरीरा॥

(रा०च०मा० ४.११.६)

(२) आत्मतत्त्व –

ईश्वर अंश जीव अबिनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

(रा०च०मा० ७.११७.२)

(३) परमात्मतत्त्व –

ब्यापक एक ब्रह्म अबिनाशी। सत चेतन घन आनँद राशी॥

(रा०च०मा० १.२३.६)

इसी सिद्धान्त की पुष्टि में भगवान् कहते हैं –

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(भ०गी० २.१२-१३)

इस श्लोक में भगवान् ने क्रम से अहम् , त्वम् , इमे, और पुनः सबको मिलाकर वयम् शब्द का प्रयोग किया है। क्रम से उत्तम, मध्यम, प्रथम इन तीनों पुरुषों का प्रयोग करके भगवान् ने आत्मा एवं परमात्मा का भेद स्पष्ट कर दिया और दोनों को त्रिकालसत्य कहा। शरीर में बाल-, युवा-, जरा-अवस्था की भाँति आत्मा को भी देव-, तिर्यक्- एवं मानव-शरीर की प्राप्ति की अवस्था कही। शरणागत को शरीर में ही आत्मतत्त्व की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह अनात्मतत्त्व तथा विनाशशील है, और आत्मा अविनाशी। इसलिये द्वन्द्वों के साथ तितिक्षापूर्वक युद्ध करो।

प्रश्न हो सकता है कि युद्ध में मृत्यु हो जाए फिर आपके मुखचन्द्र का दर्शन कैसे होगा?

इस प्रश्न का उत्तर दिया –

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(भ०गी० २.२०)

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है, और न ही यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है। भगवान् के कहने का यह आशय है कि मुझ परमात्मा की शरण स्वीकार कर कोई मरण को नहीं प्राप्त होता। सोऽमृतत्वाय कल्पते (भ०गी० २.१५) – वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। भगवच्छरण के लिये शरीर का परिवर्तन मरण का सूचक नहीं अपितु दिव्य अलंकार का सूचक है जैसे कोई पतिव्रता वनिता नित्य नई साड़ी पहनकर अपने प्राणवल्लभ को रिझाती है, उसी प्रकार भगवत्प्रपन्न भक्त भी नवीन शरीर धारण करके अपने प्रभु को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। शरीर धारण शरणागति के भजन का पोषक ही होता है। आत्मतत्त्व अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोच्य है। आत्मा जन्म, मरण से रहित है। अतः यह कभी भी शोच्य नहीं है क्योंकि शरीर अनात्मतत्त्व होने से नष्ट होता है पर यह नहीं। इस प्रकार इस विवेचन से यह स्पष्ट कर दिया कि आत्मतत्त्व परमात्मा से पृथक् होते हुए भी परमात्मा से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं मानता, उसका किसी-न-किसी माध्यम से भगवान् के चरणों से योग होना चाहिये।

शरणागत को किसी भी फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिये क्योंकि कृपणाः फलहेतवः (भ०गी० २.४९)। तुम्हारा अधिकार कर्म में है फल में नहीं – कर्मण्येवाधिकारस्ते (भ०गी० २.४७)। अतः बुद्धौ शरणमन्विच्छ (भ०गी० २.४९)। शरणागत की परिस्थिति बड़ी विलक्षण होती है। जिसे हम स्थितप्रज्ञ कहते हैं, इसी दशा का वर्णन इस अध्याय के अन्त तक है। कामना-रहित शरणागत भक्त ममता एवं अहंकार से रहित होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है। इस प्रकार वर्णित विषयवस्तु में प्रभु ने शरणागततत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। पुनः इस जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक है कि शरणागत व्यक्ति को कर्म करना चाहिये कि नहीं? इसी अभिप्राय से अर्जुन ने भगवान् से आक्षेप करते हुए कहा, आप मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं? यथा तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव (भ०गी० ३.१)। भगवान् बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं यद्यपि मैंने ज्ञानियों के लिये ज्ञानयोग द्वारा एवं योगियों के लिये कर्मयोग द्वारा शरणागति की दो निष्ठाएँ कही हैं, तथापि शरणागत को कर्म करना चाहिये क्योंकि वह प्रेमी है ज्ञानी नहीं। ज्ञानी को मरण प्रिय है और प्रेमी को शरण, अतः जिसको मरण प्रिय हो वह कर्म न करे पर जिसे शरण अभीष्ट है उसे कर्म करना ही चाहिये। क्योंकि बिना कर्म के वह जी नहीं सकता –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(भ०गी० ३.५)

कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण उचित है क्योंकि शास्त्रविहित कर्मों का त्याग कथमपि योग्य नहीं। कर्म द्वारा ही जनक आदि को सिद्धियाँ प्राप्त हुईं अतः लोकसंग्रहार्थ भी शरणागत को कर्म करना चाहिये यथा –

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

(भ०गी० ३.२०)

ईश्वर-शरणागत को अपने धर्म पर दृढ़ रहना चाहिये। शरणागत के लिये कामना बाधक हैं। अतः तृतीय अध्याय के अन्त में इस काम को नष्ट करके निष्काम कर्मयोग का आदेश दिया। इस प्रकार अपने समग्र कर्म-फलों को भगवच्चरणारविन्द में समर्पित कर शरणागत व्यक्ति काम रूप शत्रु को मारकर शिव बन सकता है क्योंकि जीव एवं शिव में इतना ही अन्तर है कि जीव का शत्रु काम एवं काम का शत्रु शिव है। इस प्रकार तृतीय अध्याय भी निष्काम कर्मयोग द्वारा शरणागति में अपना तात्पर्य समर्पित करता है।

शरणागत के लिये चिन्तन का आधार चाहिये किंवा उसके मन को केन्द्रित करने के लिये किसी निर्विकार आकार की अपेक्षा होगी। वह अवतारवाद के बिना सम्भव नहीं। अतः चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् ने अवतारवाद की प्रामाणिकता पर बल दिया। अवतार शब्द का सामान्यतः अर्थ होता है उतरना – अवतरणमवतारः। किन्तु यह व्याख्या व्यापक प्रभु के लिये उचित नहीं है। कारण कि उतरता वही है जो एक देश में रहता है, जो सर्वत्र है उसका कहाँ से उतरना, कहाँ चढ़ना? अतः अवतार शब्द का अर्थ हुआ – अवतारयति भूभारं यः सोऽवतारः जो भूभार को उतारता है वह अवतार है। अथवा अवतरन्ति शरणागता विपत्तिपर्वतेभ्यो येन सोऽवतारः। यहाँ अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (पा०सू० ३.३.१९) इस पाणिनीय सूत्र से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय हुआ है अर्थात् जिसकी सहायता से शरणागत भक्त दुर्गम विपत्ति-पर्वतों से अवतीर्ण हो जाते हैं वह अवतार है। किंवा अवतरन्ति संसारसागरं येन सोऽवतारः अर्थात् शरणागत जिसके द्वारा संसार-सागर को पार करते हैं उसे अवतार कहते हैं। यद्वा अवतरणं भावुकभक्तैः सह तत्तद्भावनानुसारसम्बन्ध-स्वीकरणमवतारः। यहाँ अवतार का तात्पर्य यह है, अपनी कक्षा से उतरकर भावुक भक्त महानुभावों के साथ उनकी भावनाओं के अनुसार पुत्र, मित्र आदि सम्बन्धों को स्वीकारना ही अवतार है।

यहाँ अवतार रामकृष्ण आदि रूप में समय-समय पर होता रहता है, उसकी परिस्थिति है धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का अभ्युत्थान। भगवान् अजन्मा, अव्यय होते हुए भी प्रकृति का आलम्ब लेकर सज्जनों के रक्षण एवं दुष्टों के दलन तथा धर्म की संस्थापना के लिये प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं। शरणागत इस लीला के चिन्तन से आवागमन से रहित होकर प्रभु को सरलता से प्राप्त कर लेता है, अर्थात् भगवल्लीला-स्मरण से शरणागत को प्रारब्ध भी अशुभ फल नहीं देता यथा –

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(भ०गी० ४.६-९)

भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म प्राकृत मनुष्यों के सदृश नहीं है, मैं अविनाशी स्वरूप, अजन्मा होने पर भी तथा सब भूतप्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ। क्योंकि साधुपुरुषों का उद्धार करने के लिये और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये तथा धर्म की संस्थापना करने के लिये युग-युग में मैं प्रकट होता हूँ – इसलिये हे अर्जुन! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्व से जानता है, वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार अवतारवाद की प्रामाणिकता से शरणागत को श्रीराम एवं श्रीकृष्ण आदि अवतारों में प्रामाण्य की प्रतीति हो गई। अब शरणागत कहीं निराश न हो जाए कि प्रभु मेरे पुरातन भाव की उपेक्षा न कर दें, अतः कहते हैं कि जो मुझे जिस भाव से प्रपन्न होते हैं मैं उन्हें उसी भाव से भजता हूँ –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(भ०गी० ४.११)

यहाँ प्रपद्यन्ते तथा भजामि ये दोनों क्रियाएँ अत्यन्त सारगर्भित हैं। प्रभु के कहने का अभिप्राय यह है कि शरणागत में सेवा का सामर्थ्य नहीं है, यह केवल इतना करे कि किसी प्रकार मुझ

तक पहुँच जाए शेष उत्तरदायित्व मेरा है, पश्चात् मैं स्वयं उसकी सेवा करूँगा। भजामि कारण कि अबोध शिशु की तो माँ ही सेवा करती है न कि शिशु। इससे अधिक शरणागत के उत्साहवर्धनार्थ और क्या कहा जा सकता है?

श्रीभक्तमाल में ऐसी कथा आती है कि श्रीरघुनाथ गोसाईंजी की संग्रहिणी के कारण शौच से अशुद्ध लँगोटी भी स्वयं श्रीजगन्नाथ भगवान् धोने के लिये तत्पर रहते हैं तथा ठंडी लगने पर रघुनाथ गोसाईं को अपनी ओढ़नेवाली रजाई भी प्रदान कर देते हैं। जैसे –

सीत लगत सकलात विदित पुरुषोत्तम दीनी।
सौच गये हरि संग कृत्य सेवक की कीनी ॥
जगन्नाथ पद प्रीति निरन्तर करत खवासी।
भगवत् धर्म प्रधान प्रसन्न नीलाचल वासी॥
उतकल देस उड़ीसा नगर "बैनतेय" सब कोउ कहैं।
"श्री"रघुनाथ गुसाईं गरुड़ ज्यों सिंह पौरि ठाढ़े रहैं॥

(भ०मा० ७१)

शरणागत के प्रति इस प्रकार सहानुभूतिपरक उदाहरण अन्यत्र बहुत कम मिलते हैं। अब यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि शरणागत को वर्णव्यवस्था का प्रतिबन्ध है या नहीं? इसका उत्तर भी भगवान् ने अपूर्व समन्वयात्मक चातुरी से दिया है –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(भ०गी० ४.१३)

अर्थात् चातुर्वण्य मेरे द्वारा निर्मित है, अतः मेरे प्रपन्न को मेरी निर्मित पद्धति की निन्दा का अथवा विरोध का कोई मौलिक अधिकार नहीं है। किसी भी वर्ण का व्यक्ति मेरी शरण में आ सकता है, पर उसे वर्णव्यवस्था के अतिलङ्घन की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जैसे शबरी प्रभु के पादारविन्द में प्रपन्न हुई परन्तु उन्होंने अरुन्धती आदि के ब्राह्मणोचित अधिकारों के प्रति कोई आक्षेप नहीं किया। भगवत्प्रपन्न विदुर अद्वितीय ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी धृतराष्ट्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश न दे सके, इसलिये उन्होंने अपने गुरुदेव सनत्सुजात का आह्वान किया। ब्रह्मविद्या के उपदेश में ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी को ही अधिकार है इतर ब्रह्मज्ञानियों को नहीं। यहाँ ध्यान रहे कि अन्य वर्ण ब्रह्मज्ञान से अपना ही उद्धार कर सकते हैं, पर ब्राह्मण अपने साथ दूसरों के भी उद्धार में समर्थ हैं। गीताजी में भगवान् का स्पष्टतः यही मन्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही सीमा में रहकर भगवत्प्राप्ति कर सकता है, क्योंकि भगवान् सर्वत्र और सबके हैं। वर्णाश्रम-धर्म के अतिलङ्घन से व्यक्ति सिद्धि, सुख एवं परमगति से वञ्चित रह जाता है, यथा –

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(भ०गी० १६.२३)

भगवान् कहते हैं कि जो शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से वर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को, तथा न सुख को ही प्राप्त होता है। गोस्वामीजी भी इसी मान्यता पर अपना हस्ताक्षर करते हैं –

प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥

(रा०च०मा० ३.१६.६)

जातिहीन, वर्णाश्रमहीन व्यक्ति सन्ध्यादिक आचरणों से रहित होकर भी केवल राम-कृष्ण नाम-जप के प्रभाव से प्रभु को प्राप्त कर सकता है, पर द्विजाति कुल में जन्म लेकर तदनुसार आचरणहीन व्यक्ति कदाचित् ही भगवद्दर्शन का अधिकारी बन सकता है। आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः (व०स्मृ० ६.३) – आचरणहीन व्यक्ति को वेद भी नहीं पवित्र कर सकते। जिसे वेद नहीं पवित्र कर सकते उसे वेदार्थभूत भगवान् कैसे पवित्र करेंगे?

अतः शरणागत को भगवान् की वर्णाश्रम-व्यवस्था का समादर करते हुए अपनी ही सीमा में रहकर भगवदाराधन करना चाहिये। जैसे आज भी टिकट आदि लेते समय लाईन में खड़ा हुआ व्यक्ति उसको तोड़ने पर टिकट पाने के बदले डंडे ही पाता है, उसी प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था का उल्लङ्घन करने वाला व्यक्ति प्रभु की कृपा पाने के बदले डंडे ही पाता है।

क्या शरणागत को कर्म-बन्धन होता है? अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान करने हेतु भगवान् कहते हैं कि न मां कर्माणि लिम्पन्ति (भ०गी० ४.१४) मुझे कर्म लिप्त नहीं करते और मुझे तत्त्व से जानने वालों को भी कर्म बन्धन नहीं होता। अब शरणागत कर्म करने के लिये विवश नहीं है किन्तु शरण्य भगवान् की आज्ञा से उसे कर्म करने हैं। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम् (भ०गी० ४.१५)।

मैं इस विषय में विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि ईश्वर-शरणागत की जीवनसरणि की जो क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित व्याख्या गीताजी में परिष्कृत रूप में उपलब्ध है वह अन्यत्र दुष्प्राप्य-सी लगती है। भगवान् की शरण में दोनों कोटि के भक्त आते हैं, प्रेमी और ज्ञानी, जिनको गोस्वामीजी ने बालक तथा प्रौढ़ रूप में विभक्त किया है –

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥

(रा०च०मा० ३.४५.८)

इन्हीं का गीताजी में साङ्ख्यानाम् तथा योगिनाम् (भ०गी० ३.३) शब्द से स्मरण किया गया

है। तृतीय अध्याय में प्रेमप्रधान शरणागतों के लिये निष्काम कर्मयोग की व्यवस्था कही गई। अब चतुर्थ अध्याय में ज्ञानप्रधान शरणागतों की कर्म-व्यवस्था का निर्वचन करते हैं।

ज्ञान होने पर कर्म का त्याग सहज है। ज्ञानकर्मसंन्यास का अर्थ है, ज्ञान की सत्ता में भी कर्म करते हुए फल को न चाहना किंवा उस फल को भगवच्चरणारविन्द में समर्पित कर देना ही निष्काम कर्मयोग है। अब तक कर्मफलविलय की चर्चा की गई थी अब कर्म में भी विलय का उपाय कहते हैं –

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(भ०गी० ४.२३)

यज्ञो विष्णुः (यज्ञो वै विष्णुः, कृ०य०तै०सं० १.७.४, श०ब्रा० १.१.२.१३), तस्मै यज्ञाय। यज्ञार्थक कर्मों का अनुष्ठानकर्ता अपने समग्र कर्मों को विलीन कर देता है –

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(भ०गी० ४.३३)

यहाँ ज्ञान का तात्पर्य जीव-ब्रह्म के एकत्व ज्ञान से नहीं है अपितु सेवक-सेव्य-भाव रूप जीवेश्वर-संबन्ध-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, जो शरणागति का रस है। इसी ज्ञान के पश्चात् शरणागत अपने समस्त कर्मों को त्याग देता है –

जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥

(रा०च०मा० ३.८.७)

यही ज्ञान परम पवित्र है, जिसके लिये भगवान् कहते हैं कि –

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(भ०गी० ४.३८)

इस प्रकार चतुर्थ अध्याय भी भगवत्तत्त्वज्ञानपूर्वक कर्मसंन्यासयोग रूप ईश्वर-शरणागति की मङ्गलमय सरणि में ही अध्यवसित हुआ।

मनुष्य का जीवन आज समस्याओं के ही बादलों से घिरा हुआ है। राजा से लेकर रङ्क तक सभी लोग किसी-न-किसी समस्या के दास हुए दिन-रात अशान्त हो रहे हैं, कहीं सुख नहीं है, श्रीगीताजी में भगवान् श्रीकृष्ण भी इस लोक को सुखहीन तथा अनित्य कहते हैं – अनित्यमसुखं लोकम् (भ०गी० ९.३३)। इन समस्याओं का मूल क्या है? परमेश्वर शरणागति का अभाव। हमारे हृदय में परमेश्वर अन्तर्यामी रूप में वर्तमान हैं फिर भी हम

दुःख की अग्नि में झुलसते हुए सुख के लिये इधर-उधर भटक रहे हैं। श्रीभागवत में रासलीला के समय भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियाँ भी इसी विषमता को आश्चर्य भरी दृष्टि से देखती हुई कहती हैं –

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥

(भा०पु० १०.३१.१)

संत कबीर भी हैरान हैं इस घटना से –

कस्तूरी कुंडल बसे मृग ढूंढै बन माँहि।
ऐसे घट घट राम हैं दुनिया देखत नाँहि॥

यह विडम्बना मानव-जीवन में कब तक रहेगी? विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जब तक मनसा वाचा कर्मणा कर्तापन का अभिमान रहेगा। यह समूलतः कब समाप्त होगा? जब जीव सर्वतोभावेन भगवान् के श्रीचरणारविन्द में शरणागत होकर अपने कर्मों को किंवा कर्मफलों को समान रूप से विसर्जित कर देगा। इसी तरह की सुस्पष्टता के लिये योगेश्वर, मदनमोहन, भगवान् श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र से यह पञ्चमाध्याय रूप गीताजी की पञ्चम पीयूषधारा प्रकट हुई। यहाँ अर्जुन के लिये यह संदेह होना स्वाभाविक है कि भगवान् एक ओर तो नियतं कुरु कर्म त्वं (भ०गी० ३.८) इत्यादि वचनों से निष्काम कर्मयोग अर्थात् कर्मफलत्यागपूर्वक कर्म करने का आदेश दे रहे हैं तो वहीं दूसरी ओर ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा (भ०गी० ४.३७), योगसंन्यस्तकर्माणम् (भ०गी० ४.४१) इत्यादि वचनों से कर्मसंन्यास अर्थात् कर्मों के त्याग का समर्थन करते हैं। इस द्वैविध्यपूर्ण परिस्थिति में शरणागत को क्या करना है? फलरहित निष्काम कर्म करना यद्वा कर्मों का त्याग? अतः अर्जुन ने जिज्ञासा की कि कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग में मेरे लिये कौन सबसे श्रेयस्कर होगा?

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

(भ०गी० ५.१)

किन्तु भगवान् शरणागत के लिये कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बताते हैं –

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

(भ०गी० ५.२)

दोनों में लक्ष्य की दृष्टि से कोई अन्तर न होने पर भी साधना-क्रम में कर्मयोग सुगम एवं भगवत्प्रपन्न व्यक्ति के लिये सुखद तथा सरलता से लक्ष्य का प्रापक है –

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(भ०गी० ५.६)

कारण कि कर्मों के त्याग के समय भी कर्ता के हृदय में त्याग का भान रूप अभिमान तो

रहता ही है, जो भगवद्भक्त के लिये महाविष है। यथा –

संसृत मूल शूलप्रद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना॥

(रा०च०मा० ७.७४.६)

दूसरा हेतु यह भी है कि कर्मसंन्यास में अकर्मण्यता की सम्भावना रहती है, जो शरणागत के लिये अभिशाप है, क्योंकि शरणागत अपने शरण्य के भजन में ही रस का अनुभव करता है – वह भी तो एक कर्म है। इसलिये समस्त कर्मों को करते हुए उन्हें भगवन्निमित्त मानकर उनसे अपनी कर्तृत्व-बुद्धि हटा लेना ही कर्मयोग है और यही ईश्वर-प्रपन्न के लिये श्रेयस्कर मार्ग है। इसी पक्ष की ओर भगवान् इस अध्याय के ८वें एवं ९वें श्लोक में बड़ा मधुर संकेत करते हैं –

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

(भ०गी० ५.८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(भ०गी० ५.९)

अर्थात् सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं इस प्रकार समझता हुआ निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। अर्जुन की यह भी अन्तर्जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कर्म में प्रवृत्त रहने पर कर्तृत्व का अभिमान न होने पर भी क्या शरणागत से कदाचिदपि पापकर्म नहीं होते? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् कमल को उपमान बनाकर दे रहे हैं। जैसे जल में रहकर भी कमल लिप्त नहीं रहता क्योंकि वह सूर्य में आसक्त तथा जल से अनासक्त है। उसी प्रकार प्रभु के मुखचन्द्र-दर्शन में तन्मय एवं उन्हीं के श्रीचरणकमल के चिन्तन से चिन्मय एवं जगत् से अनासक्त भक्त कर्म करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता यथा –

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(भ०गी० ५.१०)

शरणागत प्रभु की प्रसन्नता के लिये आत्मशुद्धि रूप कर्म करता है। भगवद्भक्त भोजन इसलिये करता है जिससे भगवान् की सेवा में बल के अभाव का अनुभव न हो। शयन इसलिये करता है कि जिससे राजीवनयन की नयन-लुभावनी झाँकी के दर्शन में आलस्य न हो। तिलक, स्वरूप आदि इसलिये करता है जिससे यह भद्रवेष देखकर परमेश्वर प्रसन्न हो जाए। परमात्मचिन्तक महानुभाव को समस्त संसार ही सीताराममय प्रतीत होता है यथा –

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुगपानी॥

(रा०च०मा० १.८.२)

सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥

(रा०च०मा० २.१३१.७)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(भ०गी० ५.१८)

भगवान् कहते हैं कि ऐसे ज्ञानी जन विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, तथा गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल में भी समभाव से देखने वाले होते हैं।

भगवच्छरणागत भक्त अनित्य तथा दुःखालय सांसारिक भोगों में न रमकर लोकाभिराम अपने राम किंवा नीलसरोरुहश्याम, व्रजललाम, श्याम के ही चरणामृतरस में रसमग्न रहता है। इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने शरणागत की अशान्ति दूर करने के लिये अपने को समस्त यज्ञों और तपों का भोक्ता, तथा सबका ईश्वर एवं सम्पूर्णभूत-प्राणिमात्र का एकमात्र निष्प्रयोजन हितैषी कहा है। भगवान् का अभिप्राय यह है कि संसार शत्रु है इसलिये यहाँ मरण मिलता है पर मैं सबका मित्र हूँ इसलिये मेरे यहाँ सभी को शरण मिल सकता है यथा –

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(भ०गी० ५.२९)

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए शरन तजउँ नहि ताहू॥

(रा०च०मा० ५.४४.१)

इस प्रकार इस पूरे अध्याय में भी त्रिलोकशरण्य भगवान् श्रीकृष्ण कर्मसंन्यासयोग-वर्णन के माध्यम से अपने शरणागत भक्त की ही दैनिक जीवन-व्यवस्था के निर्देश में अपना परम तात्पर्य समुपस्थित कर रहे हैं।

मन ही प्रत्येक भाव का नियामक है, यही विषय के संग से बन्धन का कारण बनता है और यही विषय-रहित होकर मोक्ष को दिलाता है –

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

(ब्र०बि०उ० ११)

यही नाना संकल्पों का जनक है। एवं इसी ने मनोभव जैसे दुर्दान्त को भी प्रकट किया है। शरणागत व्यक्ति के लिये इसका नियन्त्रण बहुत आवश्यक है क्योंकि नियन्त्रण के बिना यह निर्मल नहीं रह सकता तथा अपवित्र मन शरणागत की आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः इस प्रतिज्ञा

में बाधक बन जाता है। यथा –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रा०च०मा० ५.४४.५)

कभी-कभी प्राक्तन कुसंस्कारों के कारण शरणागत का मन भी भगवान् मधुसूदन के चरण-कमल से दूर हटकर मरुमरीचिका में भटकने लगता है। यथा सुग्रीव भगवान् श्रीरामभद्रजू के शरणागत हो चुके थे –

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे शरण जान सब कोऊ॥

(रा०च०मा० १.२५.१)

श्रीहनुमान् जी ने उनकी शरणागति में बड़ी प्रशस्त भूमिका निभाई –

पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।

(रा०च०मा० ४.४)

सुग्रीव भगवान् के समक्ष संकल्प भी ले चुके थे –

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥

(रा०च०मा० ४.७.१६)

इतना होने पर भी राज्य प्राप्त होने के पश्चात् उनका मन कुछ दिनों के लिये भगवान् के चरणारविन्द को भूल-सा गया। सच ही सुग्रीव के व्यक्तित्व में चार दोष आ गए थे, राज्य से संग्रह, कोष से निग्रह, पुर से विग्रह तथा नारी से परिग्रह। बहुत प्रतीक्षा करने के पश्चात् प्रवर्षण पर्वत पर वर्तमान स्फटिक-शिला के स्वच्छ तल पर आसीन श्रीराघव करुणा-भरे स्वर में बोल पड़े थे –

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोश पुर नारी॥

(रा०च०मा० ४.१८.४)

कदाचित् मन-पतङ्ग कुटुम्बप्रेम-गगन में उन्मुक्त भाव से उड़ने लगता है। जिसे लक्ष्मण जैसा साहसी ही सेवा की डोर से खींचकर उसे भगवान् की ओर कर सकता है –

रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी जंग जनु खैंच खेलारू॥

(रा०च०मा० २.२४०.६)

अतः इसी मन को नियन्त्रित करने के लिये शरणागत के हितार्थ भगवान् मनमोहन ने छठे अध्याय में आत्मसंयमयोग का वर्णन किया। मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ रहने के कारण छठा कहलता है। यथा –

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(भ०गी० १५.७)

इसलिये छठे अध्याय में इसके संयम का वर्णन पूर्ण युक्तिसंगत है। यद्यपि अर्जुन गुडाकेश

अर्थात् निद्राविजेता हैं, फिर भी मन को जीतना उनके वश का नहीं। वह तो योगेश्वर की कृपा से ही सम्भव है। इसलिये भगवान् आत्मोद्धार की चर्चा कर रहे हैं –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(भ०गी० ६.५)

मनुष्य को चाहिये कि अपने प्रयत्न द्वारा अपना उद्धार करे और अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, यह मन ही अपना मित्र है और मन ही अपना शत्रु है। यहाँ यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि श्रीगीताजी में आत्मा शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है –

(१) आत्मा अर्थात् परमात्मा –

परमात्मेत्युदाहृतः।

(भ०गी० १५.१७)

(२) आत्मा अर्थात् जीवात्मा –

रिपुरात्मनः।

(भ०गी० ६.५)

(३) आत्मा अर्थात् बुद्धि –

आत्मना जितः।

(भ०गी० ६.६)

(४) आत्मा अर्थात् मन –

वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(भ०गी० ६.६)

मन के हारे हार है मनके जीते जीति।
परब्रह्म को पाइये मन ही की परतीति॥

प्रकृत प्रसंग में भगवान् आत्मा-पदवाची जीवात्मा के अवसाद को मिटाने की चर्चा कर रहे हैं। मन के उद्धार से ही जीवात्मा का अवसाद मिट सकता है। मन के ही प्रसाद से आत्मा का प्रसाद सम्भव है। जैसे राजा चारचक्षु होता है – राजानश्चारचक्षुषः (म०पु० २१५.९१), गुप्तचर ही उसके नेत्र माने जाते हैं – चारैः पश्यन्ति राजानः (सु०र०भा० ७.२६८), पर कभी-कभी इन्हीं की असावधानी से राजा का सर्वस्व-नाश भी हो जाता है, वैसे ही आत्मा का नेत्र मन है, इसी के प्रमाद से आत्मा का अधःपतन होता है, तथा इसी के प्रसाद से आत्मा को परमात्मा की कृपा का प्रसाद भी मिल जाता है। सन्तों ने भी यही कहा है। शरणागत को इसका नियन्त्रण करना अत्यन्त आवश्यक है। एतदर्थ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र छठे अध्याय के ११वें श्लोक से ३२वें श्लोक तक मनोनियन्त्रण की यौगिक प्रक्रिया का वर्णन

करते हैं। ३४वें श्लोक में अर्जुन इसके निग्रह को वायु के समान दुष्कर कहकर इसके निग्रह में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। उनका संकेत है कि प्रभो! मैं अब तक धनञ्जय बन पाया, पर अभी भी मनोजय नहीं बन सका क्योंकि यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमाथी एवं अत्यन्त बलवान् है। यथा –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(भ०गी० ६.३४)

भगवान् श्रीकृष्ण भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करते हैं, पर ढाँढ़स बँधाते हैं, यथा –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(भ०गी० ६.३५)

अर्थात् हे महाबाहो अर्जुन! यह मन निःसंदेह वश करने में कठिन एवं चञ्चल है। हे कुन्तीपुत्र! फिर भी इसे अभ्यास एवं वैराग्य से वश में किया जा सकता है। यहाँ अभ्यास शब्द का तात्पर्य भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम के चिन्तन रूप अभ्यास में है। क्योंकि काम, क्रोध, लोभ, मोह – ये चार विकार ही मन को चञ्चल बनाते हैं। जब कभी मन उद्विग्न हो तो प्रभु के मङ्गलमय नाम का जप करना चाहिये। कभी-कभी लोकलोचनाभिराम, भुवनाभिराम श्रीराम के मुखचन्द्र के ध्यान में मन को समाहित कर लेना चाहिये। कदाचित् मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम एवं पुष्टि-पुरुषोत्तम राधेश्याम की ललितलीलामाधुरीमय कथा रूप मन्दाकिनी में मन रूप गजेन्द्र को अवगाहन कराना चाहिये यथा भवौषधाच्छोत्रमनोऽभिरामात् (भा०पु० १०.१.४)।

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौ एहिं सर परई॥

(रा०च०मा० १.३५.८)

कभी भगवान् के चिन्मयधाम श्रीअवध, श्रीचित्रकूट, श्रीवृन्दावन की परमपावन रज से मन को नीरजस्क बनाना चाहिये, यथा अब चित चेत चित्रकूटहि चलु (वि०प० २४.१)।

भव भुजंग तुलसी नकुल डसत ग्यान हरि लेत।
चित्रकूट एक औषधी चितवत करत सचेत॥

(दो० १८०)

एक श्याम-दीवानी गोपी एक पथिक से व्यञ्जना में अप्रस्तुत प्रशंसा करती हुई कह रही है कि हे पथिक! नन्द बाबा के भवन वाली गली में कभी भूलकर मत जाना, वह बड़ी भयंकर है। उस मार्ग में एक नंगा-धड़ंगा तमाल के समान नीलवर्ण वाला बालक खेलता रहता है। वह उस रास्ते से निकलते हुए पथिक के चित्तरूप धन को बरबस खींच लेता है। यथा –

मायात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

(श्री०कृ०क० २.३४)

यहाँ भगवान् का तात्पर्य यह है कि अर्जुन! तुम मन को प्रमाथी कहते हो पर स्मरण करो, तुमने संग्राम में भगवान् प्रमथनाथ शिव को भी जीता है तो क्या इसे नहीं जीत सकते? तुम इसे वायु के समान अग्राह्य कह रहे हो पर भूल गए तुम्हारे रथ की ध्वजा पर साक्षात् वायुपुत्र हनुमान् जी विराजमान हैं। अतः अभ्यास करो। वैराग्य से मन केन्द्रित किया जा सकता है – वैराग्येण च गृह्यते (भ०गी० ६.३५)। इस वाक्यांश का तात्पर्य श्रीमानसजी के सुन्दरकाण्ड में विभीषण के समक्ष श्रीराघव के द्वारा कही हुई मनोनियन्त्रण-पद्धति से सुगमता से समझा जा सकता है –

जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा।
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

(रा०च०मा० ५.४८.४)

इस प्रकार इस अध्याय के उत्तरार्ध में योग-भ्रष्ट व्यक्ति के लिये भी सुविधा का निर्देश करके भगवान् ने कदाचित् पतित शरणागत के हृदय में भी आशा का संचार किया।

मनसंयम रूप योग से यदि कोई प्रमादवश कभी विचलित हो जाए तो उसकी क्या परिस्थिति होती है? क्या वह घने बादल की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता? अर्जुन का यह प्रश्न अत्यंत करुण एवं मनोवैज्ञानिकता से भरा हुआ है –

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

(भ०गी० ६.३७-३९)

अर्जुन ने पूछा – हे कृष्ण! जिसका मन योग से चलायमान हो गया है ऐसा शिथिलयत्न-वाला श्रद्धायुक्त पुरुष योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत्साक्षात्कारता को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है? और हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं होता? हे कृष्ण! मेरे इस संशय का सम्पूर्णतः समाधान करने के लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके बिना अन्य इस संशय का छेत्ता प्राप्य नहीं है। इस करुण प्रश्न से अकारणकरुणावरुणालय

की करुणा-कादम्बिनी बरस पड़ी एवं प्रभु ने प्रेमभरे स्वर में कहा –

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

(भ०गी० ६.४०)

हे पार्थ! मेरे लिये साधन करता हुआ साधक प्रमादवश यदि साधन से भ्रष्ट हो जाता है फिर भी उसका उभयलोक में नाश नहीं होता और हे तात! मेरा शरणागत कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। अहो! अर्जुन के प्रति यहाँ भगवान् का कैसा वात्सल्य-सागर उमड़ पड़ा। सम्पूर्ण गीता में भगवान् ने एक ही बार अर्जुन के लिये तात शब्द का प्रयोग किया है। न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति (भ०गी० ६.४०)। यहाँ तात शब्द बेटा, मित्र, भाई इत्यादि अनेक अर्थों में कहा जा सकता है। यहाँ भ्रष्ट शरणागत के लिये भगवान् ने कितनी बड़ी छूट तथा कितना मङ्गलमय आश्वासन दिया है –

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(भ०गी० ६.४१-४५)

भगवान् कहते हैं कि वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक वास करके शुद्ध आचरण करने वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है। अथवा वह ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेता है। सत्य ही इस प्रकार का जन्म संसार में निःसंदेह अति दुर्लभ है। वहाँ वह पुरुष उस पहले शरीर में साधन किये हुए बुद्धि के संयोग को अनायास ही प्राप्त करता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से पुनः अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्ति के निमित्त यत्न करता है। पूर्व के अभ्यास से ही निःसंदेह भगवान् की ओर आकर्षित होता है और समत्वबुद्धि रूप योग का जिज्ञासु बनकर वेद में कहे हुए सकामकर्मों के फल का उल्लङ्घन कर जाता है। जब इस प्रकार मन्द प्रयत्न करने वाला योगी भी परमगति को प्राप्त हो जाता है, तब क्या कहना है कि अनेक जन्मों से सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी सम्पूर्ण पापों से शुद्ध होकर

परमगति को प्राप्त होता है। उपसंहार में तस्माद्योगी भव (भ०गी० ६.४६) कहकर शरणागत को अपने लिये कर्म करने का आदेश दिया, और अन्त में प्रभु ने श्रद्धापूर्वक भजन करने वाले को युक्ततम कहा। यथा –

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(भ०गी० ६.४७)

भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् अन्तरात्मा से मुझे भजता है वह मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है। इस प्रकार इस छठे अध्याय में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने शरणागत के लिये मनोनियन्त्रणपूर्वक श्रद्धायुक्त भजन करने की व्यवस्था का उपदेश दिया। अतः गीताजी का यह अध्याय भी शरणागत-व्यवस्था के प्रतिपादन में उपदिष्ट होने के कारण स्वरसतः अपना अक्षरशः परम तात्पर्य शरणागति में ही समाहित करता है।

गीता के प्रथम छः अध्यायों में भगवान् ने शरणागत के दायित्व की मीमांसा कही, अब द्वितीय अध्यायषट्क में शरणागति एवं उसकी अङ्गभूत भक्ति की विवेचना कर रहे हैं।

सर्वप्रथम सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञानयोग की प्रस्तावना करते हैं। तात्पर्य यह कि सामान्यरूप से भगवान् के ऐश्वर्य को जाने बिना उनमें प्रतीति नहीं होती और बिना प्रतीति के प्रभु के चरणों में प्रीति का अभ्युदय नहीं होता एवं प्रीति के अभाव में साधनरूप भक्ति में दृढ़ता नहीं आती यथा –

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

(रा०च०मा० ७.८९.७-८)

ज्ञान-विज्ञान का निरूपण इसी अभिप्राय से किया गया है। यद्यपि अन्यत्र विज्ञान ज्ञान से उत्कृष्ट माना गया है यथा – ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी (रा०च०मा० ७.८६.६), पर प्रकृत प्रसंग में विज्ञान का अर्थ है प्रकृति का विशेष ज्ञान तथा ज्ञान का अर्थ है, भगवान् के ऐश्वर्य का ज्ञान, यथा –

विशिष्टं प्रकृतेर्ज्ञानं विज्ञानमिति भण्यते।
ईश्वरस्यैश्वरज्ञानं ज्ञानं जेगीयते बुधैः॥

(इति मम)

यहाँ विज्ञान की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है। इसलिये सातवें अध्याय के द्वितीय श्लोक में विज्ञान शब्द के साथ सहित पद को समस्त किया गया है। ज्ञानं विज्ञानसहितम् (भ०गी० ७.२) अर्थात् विज्ञानेन सहितं ज्ञानम् । इस तृतीया विभक्ति का तात्पर्य अप्रधान अर्थ में है, क्योंकि सहार्थक

शब्द के योग में अप्रधान रूप अर्थ को ध्वनित करने के लिये ही तृतीया होती है। यथा लक्ष्मणेन सहितो रामः। पाणिनीय सूत्र का भी यही मन्तव्य है – सहयुक्तेऽप्रधाने (पा०सू० २.३.१९)। सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात् (वै०सि०कौ० ५६४)। ज्ञान को अभ्यर्हित अर्थात् श्रेष्ठ मानकर ही अभ्यर्हितञ्च (वा० २.२.३४) इस वार्त्तिक के बल पर ज्ञानविज्ञानयोगः इस समुदाय में ज्ञान शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ इसलिये सूचीकटाहन्यायेन भगवान् ने संक्षेप में प्रथम विवेचन किया। जिज्ञासा के दो पक्ष हुआ करते हैं – एक हेय और दूसरा उपादेय। प्रत्येक जिज्ञासु के मन में यह अन्तर्द्वन्द्व उठा ही करता है कि क्या त्याज्य है तथा क्या ग्राह्य है। त्याज्य के छोड़ने में उसके दोष का जानना आवश्यक है, उसी प्रकार ग्राह्य के ग्रहण करने में उसके गुण का ज्ञान।

भगवान् ने विज्ञान के दो भेद माने हैं – (१) पराप्रकृतिविज्ञान तथा (२) अपराप्रकृति-विज्ञान। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार – ये अपरा प्रकृति के आठ भेद हैं और परा प्रकृति साक्षात् जीवभूता है जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(भ०गी० ७.४-५)

इससे भी जीवात्मा एवं परमात्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है। जीव प्रकृति है और परमात्मा प्रकृति से परे हैं। पन्द्रहवें अध्याय में इसी अष्टधा अपरा प्रकृति को क्षर पुरुष एवं परा जीवभूता प्रकृति को अक्षर पुरुष तथा इन दोनों से परे परम अक्षर को पुरुषोत्तम कहा गया।

इस सातवें अध्याय में ७वें श्लोक से १३वें श्लोक तक भगवान् ने समस्त पदार्थों में अन्तर्यामी रूप से अपनी सत्ता कही एवं पूर्णरूप में सबको अपना आधार बताया। शरणागत दुरत्यया दैवी माया का तरण कर सकता है। शरणागति के बिना इस माया पर कभी भी विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं है यथा –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(भ०गी० ७.१४)

भगवान् कहते हैं कि यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया अति दुस्तर है, परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं वे इस माया को तर जाते हैं।

अब शरणागत के भेद का निर्देश करते हैं। कुछ लोग अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये आतुर होकर उसे अनन्यसाध्य जानकर भगवान् की शरणागति स्वीकारते हैं, जैसे विभीषण –

श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन शरन सुखद रघुबीर॥

(रा०च०मा० ५.४५)

उन्हें आर्त कहते हैं। कतिपय शरणागत अर्थ के लिये प्रभु की शरणागति स्वीकारते हैं, उन्हें अर्थार्थी कहते हैं, जैसे सुग्रीव। कुछ शरणागत भक्त धर्म-जिज्ञासा की शान्ति के लिये भगवान् की शरणागति स्वीकारते हैं, जैसे लक्ष्मण –

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥

(रा०च०मा० ३.१४.७)

उन्हें जिज्ञासु कहते हैं। कतिपय लोग दिव्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष की इच्छा से भगवत्प्रपन्न होते हैं, उन्हें ज्ञानी कहते हैं, यथा जटायु। श्रीराघव ने शरीर रखने के लिये अनुरोध भी किया पर उन्होंने नहीं स्वीकारा और कहा कि –

दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना॥
राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता॥
जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगे। राखौं देह नाथ केहि खागे॥

(रा०च०मा० ३.३३.४-७)

ये सभी उदार हैं पर ज्ञानी मेरी आत्मा है यथा –

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(भ०गी० ७.१६-१८)

पुनः अर्जुन को जिज्ञासा हो सकती थी कि सकाम शरणागत अर्थात् आर्त अन्य देवता की भी शरणागति से अपनी काम्य वस्तु प्राप्त कर सकता है, इसके उत्तर में भगवान् का यह मन्तव्य है कि अन्य देवता भी मुझसे प्राप्त करके अपने अर्चक को अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हैं। यथा –

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(भ०गी० ७.२०-२१)

किन्तु इतना ही होता है कि उनका दिया हुआ फल सीमित तथा प्रभु का प्रदत्त प्रसाद असीम होता है, क्योंकि कोई भी इष्ट अपनी पूरी-की-पूरी प्रदत्त वस्तु अपने अर्चक को नहीं देता। जैसे कोई कर्मचारी अपने निजी सेवक को अपने वेतन का कुछ ही अंश दे पाता है क्योंकि उसी वेतन से अपने भी योगक्षेम का चलाना रहता है। प्रायः देवताओं का भी यही नियम है। श्रीगोस्वामीजी ने कवितावली में इस विषय का बड़ा मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है –

तापसके बरदायक देव सबै पुनि बैर बढ़ावत बाढ़े।
थोरेहि कोप कृपा पुनि थोरेहि बैठि के जोरत तोरत ठाढ़े।
ठोकि बजाइ लख्यो गजराज कहाँ लौं कहौं सबसों रद काढ़े।
आरतदीन अनाथन के रघुनाथ सहाय सही दिन गाढ़े॥

(क० ७.५४)

दूसरा अन्तर यह है कि अन्य देवताओं के पूजक अन्त में उन्हें प्राप्त करते हैं, किन्तु भगवच्छरणागत एकमात्र प्रभु को। यथा –

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(भ०गी० ७.२३)

यहाँ भगवान् का आशय स्पष्ट है कि शरणागत को अनन्यदैवत भाव से राम किंवा श्याम की शरणागति स्वीकारनी चाहिये। दो नाव पर चढ़नेवाला व्यक्ति निश्चित ही बीच धारा में डूब जाता है। द्रौपदी के मन में जब तक पाँचों पतियों का सम्बल रहा तब तक प्रभु नहीं आए। ज्यों ही निराश होकर अनन्यभाव से प्रभु को पुकारा त्यों ही व्रजराज द्रौपदी के पटवर्धन के रूप में प्रस्तुत हुए। पहले इन्होंने गोपियों को दिव्य शरीर देने के लिये प्रारब्धमय शरीर रूप वस्त्र को चुराया था। आज ये ही प्रभु भरी सभा में लज्जा रखने के लिये द्रौपदीजी का चीर बढ़ा रहे हैं। अतः –

तजि कुसंग गिरिधर गहहु चरन सरन व्रजराज।
बचा न पाए पंच पति द्रुपदसुता की लाज॥

(इति मम)

शरणागत को अपने प्रभु के किसी एक निश्चित अभीष्ट रूप का ध्यान करना चाहिये। यथा –

शरणं मम राघवः सदा शरणं मे मिथिलेशकन्यका।
शरणं पुनरेव तावुभौ शरणं नान्यदुपैमि दैवतम्॥

(इति मम)

सप्तम अध्याय के चरम श्लोक में भी भगवान् का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि जरा तथा मरण से मोक्ष पाने के लिये अर्थात् सकाम भावना से भी यदि कोई उनका आश्रय लेकर भजन करें तो वे ब्रह्म आदि सप्त वस्तुओं को जानकर मुझे ही प्राप्त होते हैं, और वे अन्तकाल में मुझको जान लेते हैं। अर्थात् मेरी कृपा से प्राण जाते समय कफ, वात आदि व्याधियों द्वारा उनकी स्मृति का अपहनन नहीं होता। इस प्रकार इस सातवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अनन्य-शरणागति की चर्चा से ही ज्ञान-विज्ञान का उपसंहार किया।

आठवाँ अध्याय अक्षरब्रह्मयोग नाम से जाना जाता है, इसमें भगवान् अपनी सुलभता की व्याख्या कर रहे हैं। प्रत्येक शरणागत के मन में ऐसे विचार आ सकते हैं कि जिनका दर्शन योगीन्द्र, मुनीन्द्र, परमहंस, अमलात्माओं के लिये नितरां दुर्लभ है, क्या वे प्रभु मुझ अकिञ्चन के लिये सुलभ हो सकेंगे? यही दृष्टिकोण केन्द्र-बिन्दु है अष्टमाध्याय के प्रारम्भ में प्रस्तुत अर्जुन की जिज्ञासा का। शरणागति का प्राण है स्मरण, जो मरण काल में अभ्यास के बिना सर्वथा दुर्लभ है –

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥

(रा०च०मा० ४.१०.३)

अतः अर्जुन का प्रश्न हुआ कि –

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥

(भ०गी० ८.२)

कि हे मधुसूदन! युक्तचित्त वाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हो? भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर में निरन्तर स्मरण रूप अभ्यास की व्यवस्था कही –

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च॥

(भ०गी० ८.७)

क्योंकि मृत्यु का समय निश्चित नहीं, किसी भी समय शरीर छूट सकता है। अतः सर्वदा ही अपने प्यारे राघव या माधव की मङ्गलमय मुखचन्द्र वाली झाँकी का अथवा नवनलिन-अरुणचरण का स्मरण करते ही रहना चाहिये। पुराणों में भी भगवत्स्मरण को ही समस्त विधि वाक्यों का तिलक तथा भगवद्विस्मरण को समस्त निषेध-वाक्यों का शिरताज कहा गया

है। यथा –

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव विधिङ्कराः॥

(प०पु०उ०ख० ७१.१००)

इसी स्मरण को सुस्थिर रखने के लिये भगवान् ने शरणागत साधक को अभ्यासयोग की प्रक्रिया का उपदेश दिया तथा अनन्यचित्त से स्मरण करने वाले के लिये अपने को नित्य सुलभ कहा। पुनरागमन वाले लोकों की व्यवस्था का वर्णन भी इसी अभिप्राय से किया कि आवागमन से छूटने के लिये उन्हीं के पादपद्म की शरण लेनी चाहिये –

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(भ०गी० ८.१६)

उस परम पुरुष की प्राप्ति के लिये भगवान् ने अनन्य भक्ति को ही माध्यम बताया। यथा –

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(भ०गी० ८.२२)

पुनः भगवान् ने शुक्ल-कृष्ण-श्रिति का व्याख्यान करते हुए अर्जुन को सम्पूर्ण काल में परमेश्वर स्मरण रूप अभ्यासयोग से युक्त होने का आदेश दिया। अतः निःसन्दिग्ध रूप से इस अष्टमाध्याय को भी अनन्यस्मरणसहकृत शरणागति रूप तात्पर्य में ही पर्यवसित कर रहे हैं।

गीता का नवम अध्याय राजविद्याराजगुह्ययोग नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् ने अर्जुन को गुह्यतम ज्ञान का उपदेश दिया है –

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(भ०गी० ९.१)

प्रारम्भ में अपनी सर्वत्र व्याप्ति कहकर प्रभु ने शरणागति का सरस सिद्धान्त प्रतिपादित किया। पश्चात् समस्त संसार को अपने द्वारा रचित बताया। अनन्तर उपासना के भेद पर प्रकाश डाला। भगवान् ने शरणागत को आश्वस्त करते हुए कहा कि समस्त संसार का एकमात्र मन्तव्य है कि सबका भरण-पोषण करने वाला कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ, साक्षी तथा सभी का शाश्वत आश्रय मैं ही हूँ एवं समस्त जीवमात्र का एकमात्र शरण अर्थात् रक्षक तथा सुहृद् मैं ही हूँ –

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(भ०गी० ९.१८)

शरणागत को अपनी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि आत्मनिक्षेप के पश्चात् उसका समस्त उत्तरदायित्व भगवान् ले लेते हैं, उसे केवल अनन्य मन से भगवदीय उपासना करनी चाहिये। उस नित्ययुक्त महात्मा के योग तथा क्षेम का वहन भगवान् करते हैं। यथा –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(भ०गी० ९.२२)

यहाँ योग का अर्थ है अलभ्य वस्तु का लाभ एवं क्षेम का तात्पर्य है लब्ध वस्तु का रक्षण। अलभ्यलाभो योगः। लब्धस्य रक्षणं क्षेमम् । अनन्य शब्द का अर्थ है अन्य आश्रय का त्याग। नास्त्यन्यो भगवदतिरिक्त आश्रयो येषां तेऽनन्याः। नारदभक्तिसूत्र में भी अनन्यता का लक्षण इसी प्रकार का है – अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता (ना०भ०सू० १०)। अपि च –

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४.३)

अनन्य शरणागत सर्वत्र अपने भगवान् के ही भरोसे मस्ती में उन्हीं को कण-कण में निहारता रहता है, उसे प्रभु के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं दिखता। अनन्यता का उदाहरण श्रीमानस का चन्द्रदर्शन प्रसंग है। सुबेल पर्वत पर आसीन प्रभु राम चन्द्रमा की श्यामता को ही जिज्ञासा का व्याज लेकर प्रत्येक भक्त की मनोवृत्ति की परीक्षा के लिये समस्या उपस्थित कर रहे हैं –

कह प्रभु ससि महँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई॥

(रा०च०मा० ६.१२.४)

चतुर खिलाड़ी प्रभु तीन महानुभावों के साथ स्वयं भी परीक्षार्थी बन बैठे। सभी ने चन्द्रमा की श्यामता में अपने ही मन की अनुभूति देखी। आज इस प्रश्न का समाधान चार महानुभाव अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार कह रहे हैं – सुग्रीव, विभीषण, अंगद तथा स्वयं मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम। सुग्रीव राजा हैं, उनके मनःपटल पर भूमि-लिप्सा का चित्र अंकित है। अतः उन्होंने चन्द्रमा में भी भूमि की छाया ही देखी –

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई॥

(रा०च०मा० ६.१२.५)

विभीषण को रावण ने मारा है, उनके हृदय में अपमान की ग्लानि से जनित कालिमा है इसलिये उन्होंने इस समस्या के समाधान के लिये अपने ही समान परिस्थिति वाले चन्द्रमा

का सहारा लिया और कहा कि प्रभो! चन्द्रमा को राहु ने मारा है, उसी ग्लानि की श्यामता इसके हृदय में प्रतीत होती है –

मारेउ राहु शशिहिं कह कोई। उर महँ परी श्यामता सोई॥

(रा०च०मा० ६.१२.६)

अंगदजी का सर्वस्व छीन लिया गया है इसलिये उन्होंने चन्द्रमा पर भी अपनी परिस्थिति का अवलोकन किया और बोले राघव! ब्रह्माजी ने रतिमुख के रचनाकाल में चन्द्रमा का सार भाग ले लिया था। उसी छिद्र से आकाश की श्याम परिछाहीं चन्द्रमा के हृदय में दिखती है –

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग शशि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं॥

(रा०च०मा० ६.१२.७-८)

इसी अभिप्राय का वर्णन नैषधीयचरितम् में श्रीहर्ष ने दमयन्ती के मुख की शोभा के वर्णन में किया है –

हृतसारभवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥

(नै०च० २.२५)

कौतुकी कोशलाधीश ने भी अपनी परिस्थिति के अनुसार कहा –

प्रभु कह गरल बन्धु शशि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥

(रा०च०मा० ६.१२.९-१०)

अहो! परीक्षक भी परीक्षार्थी बना, पर अभी भी प्रश्न जैसा-का-तैसा है। अध्यक्षीय भाषण के पश्चात् भी एक महानुभाव ने हँसते हुए विनम्रता से कहा – प्रणतपाल! क्षमा करें इस धृष्टता को। मर्यादा का उल्लङ्घन कर रहा हूँ पर अब तक समस्त उत्तरदाताओं ने चन्द्रमा की परिस्थिति के आकलन में घोर अन्याय बरता है। मेरी दृष्टि में तो इस प्रश्न का समाधान कुछ अन्य ही प्रकार का है। चन्द्रमा आपके प्रिय दास हैं, अतः उनके हृदय में निवास करती हुई आपकी मङ्गलमयी साँवली मूर्ति की श्यामता ही चन्द्रमा की मेचकता है। उनकी शीतलता एवं मधुरता अपके मुखचन्द्र का हास है, एवं उनकी श्यामता आपकी ही भुवन-मोहिनी श्याममूर्ति का आभास है उनका अपना कुछ भी नहीं है –

कह मारुतसुत सुनहु प्रभु शशि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ श्यामता भास॥

(रा०च०मा० ६.१२)

यही वास्तविकता अनन्यता है। इसी कोटि के अनन्योपासक महानुभावों के योग तथा क्षेम की व्यवस्था भगवान् करते हैं। ९वें अध्याय का २२वाँ श्लोक शरणागत भगवद्भक्त महानुभाव के लिये परम महत्त्वपूर्ण आश्वासन है। यहाँ भगवान् शरणागत को निश्चिन्त होने की आज्ञा दे रहे हैं –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(भ०गी० ९.२२)

भगवान् कहते हैं कि जो अनन्यभाव से मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करते हुए, निष्कामभाव से भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थिति वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं करता हूँ।

दूसरे अध्याय के ४५वें श्लोक में अर्जुन को निर्योगक्षेम आत्मवान् (भ०गी० २.४५) होने की आज्ञा दी थी। अब योग तथा क्षेम की व्यवस्था स्वयं अपने सिर पर ले रहे हैं। शरणागत के लिये इससे अधिक और क्या आश्वासन हो सकता है?

सामान्य स्वामी निष्क्रिय सेवक को छोड़ देता है किन्तु प्रभु अपने शरणागत को अपने को ही दे डालते हैं तथा अन्य स्वामियों की भाँति अपने दातापन का ध्यान नहीं रखते, प्रत्युत भक्त की रुचि रखने के लिये उसके पत्र, पुष्प, जल, फल को भी सानन्द स्वीकार लेते हैं –

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(भ०गी० ९.२६)

मानो अर्जुन को प्रभु संकेत में कह रहे हैं कि तुम पत्ररूप वैदिक-कर्मव्यवस्था को, पुष्प अर्थात् अपने मन के समस्त भावों को, युद्ध में सम्भावित शुभाशुभ फलों को, तथा अपने करुणा के जल को ही मेरे चरणों में अर्पित करके निश्चिन्त हो जाओ। क्रिया, भोजन, हवन, दान तथा तपस्या आदि को मुझे ही अर्पित करो। इस प्रकार संन्यासयोग अर्थात् श्रेष्ठ शरणागति से सम्पन्न होकर मुझे ही प्राप्त कर लोगे। यहाँ अपने श्रीचरणों की प्राप्ति में आचरण की अपेक्षा शरणागति को श्रेष्ठ कह रहे हैं। यथा –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(भ०गी० ९.३०)

प्रसङ्गोपात्त होने से इन श्लोकों की व्याख्या बहुत अंशों में पहले कर दी गई है। यहाँ भगवान् का यही अभिप्राय है कि दुराचरणशील भी शरणागति रूप स्वर्णिम सोपान पर आरूढ़ होकर

मुझे प्राप्त कर लेता है। तुम तो सदाचरणशील हो। भाव यह कि सदाचरण मेरे चरण का प्रापक नहीं किन्तु स्वर्ण में सुहागा की भाँति शरणागति का मण्डन अवश्य है। यह भगवत्प्रपत्ति रूप भागीरथी सबको सुलभ एवं सुखद है। यहाँ प्रभु ने स्वभावतः पापयोनि, स्त्री, वैश्य एवं शूद्र को भी शरणागति के माध्यम से परमपद का अधिकारी कह दिया –

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(भ०गी० ९.३२)

व्यपाश्रित्य शब्द का अर्थ है विपरीतपदव्याऽपकृष्टस्तथाऽप्याश्रित्य। भाव यह है कि अशास्त्रीय पद्धति से निम्न कामादि भावनाओं द्वारा भी मेरा आश्रय लेकर शरणागत परमपद को प्राप्त कर लेता है जैसे वृन्दावन की पुलिन्द कन्याएँ –

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥

(भा०पु० १०.२१.१७)

वेणुगीतरसमत्त एक गोपी दूसरी गोपी से कह रही है कि हे आलि! राधारानी के वक्षोज से मण्डित भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल के पराग से युक्त कुमकुम को श्रीवृन्दावन की तृणराशियों पर लगा हुआ निहार कर, उससे श्रीकृष्णचन्द्र के स्मरण से समाकुल होकर उसी कुमकुम को अपने मुख एवं पयोधरों पर लगाकर यह पुलिन्द कन्याएँ भी पूर्ण अर्थात् भगवत्कृपा की अधिकारिणी हो गई हैं।

वस्तुतः यह अध्याय कितना गुह्यतम है और यही गीता का हृदय है। हृदय समस्त अङ्गों के मध्य में होता है। सौभाग्य से यह नौवाँ अध्याय अष्टादशाध्यायी गीता के मध्य में है। हृदय में ही पञ्च प्राण रहते हैं उसी प्रकार गीता के हृदयभूत नवें अध्याय में पञ्चप्राण के समान हैं ३० से ३४ तक के ये पाँच श्लोक।

इस अध्याय के विश्राम में भगवान् ने शरणागत अर्जुन को चार आदेश दिये। मन से मनन करो, बुद्धि से भजन करो, अहं से यजन करो तथा चित्त से नमन करो। गीताजी के इन्हीं नवें अध्याय के अन्तिम पाँचों श्लोकों में शरणागति की पञ्चभूत शुद्धि तथा पाञ्चभौतिक शरीर से दिव्यता को प्राप्त करने का निर्देश एवं पञ्चोपचार पूजन का संकेत है। अहो! समस्त प्राणिमात्र के हृदय भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनका भी हृदय श्रीमद्भगवद्गीता एवं उस गीता का हृदय यह नवम अध्याय है, जिसके पञ्च प्राण हैं ये पाँचश्लोक। कितना रहस्यपूर्ण है गीतोक्त

शरणागति-रस। इस प्रकार गीता के हृदयभूत इस नवम अध्याय में भगवान् ने समर्पण रूप अनन्यशरणागति की व्यवस्था कहकर अपना हार्द ही उड़ेल दिया।

शरणागति की अनन्यनिष्ठा का ही भगवान् ने दशम अध्याय में विभूतियोग के द्वारा प्रस्ताव किया, अर्थात् जगतीतल में जो कुछ भी दिख रहा है वह सब मेरी विभूति ही है। मेरे अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है। शरणागत को यही निष्ठा रखनी चाहिये। इसी में ही उसका हित है। अतः भगवान् कहते हैं –

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(भ०गी० १०.४१)

इस अध्याय के ८वें श्लोक से ११वें श्लोक तक भगवान् ने क्रमबद्ध भक्ति-पद्धति का निरूपण किया है, जिसे गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती ने अपनी गीतासारार्थ-वर्षिणी नाम की टीका में और श्रीबलदेवविद्याभूषण ने अपनी गीताभूषण नाम की टीका में चतुःश्लोकी गीता के नाम से अभिहित किया है। भगवान् कहते हैं कि पण्डितजन यही मानकर के भाव से भरा भजन करते हैं कि समस्त संसार भगवान् से उत्पन्न है तथा सबके कारण भगवान् हैं। भजन के पश्चात् शरणागति से बहिरङ्ग इतना रसमय हो जाता है कि भक्तों का चित्त मुझमें लग जाता है एवं मेरे बिना एक क्षण वे जीवित नहीं रहना चाहते। मेरे गुणग्रामों को एक दूसरे को समझाते हुए नाम, रूप, लीला के माध्यम से मेरा ही व्याख्यान करते हुए सतत सन्तुष्ट होते रहते हैं, एवं मेरी ही चरित्र-माधुरी में रमण करते रहते हैं। यथा –

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(भ०गी० १०.८-९)

इस प्रकार भजन करने वालों के प्रति भगवान् अपनी प्रतिक्रिया कहते हैं कि मैं बुद्धियोग द्वारा उन्हें अपने निकट बुला लेता हूँ और उनके आत्मभाव में स्थित होकर अज्ञानान्धकार को नष्ट करता हूँ। यथा –

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(भ०गी० १०.१०)

अब अर्जुन ने चिन्तन के उपयोगी भावों के विषय में प्रश्न किया। अर्थात् किन-किन पदार्थों में आपका चिन्तन किया जा सकता है –

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥

(भ०गी० १०.१७)

यहाँ भाव शब्द दिखाई पड़ने वाली प्राकृत वस्तु के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने २०वें श्लोक से ४१वें श्लोक तक अपनी प्रधान विभूतियों के नाम मात्र कहकर वर्णन किया। उनका आशय यह है कि समस्त प्राकृतिक पदार्थ मेरी एकपाद विभूति से ही उत्पन्न हैं यथा पादोऽस्य विश्वा भूतानि (शु०य०मा०सं० ३१.३)। इसलिये जल में, स्थल में, नभ में, सर्वत्र सब पदार्थों में मेरा ही चिन्तन करो। इस दृष्टि से दशम अध्याय का भी तात्पर्य शरणागति में ही उपपन्न हुआ, क्योंकि इसमें भगवान् मधुसूदन ने शरणागति की भजन-क्रिया एवं उसके लिये सर्वत्र ध्यान की सुगमता का निर्देश किया है। निजपदपद्मप्रपन्न पार्थ को प्रभु ने विभूतियोग द्वारा प्रत्येक प्राकृत वस्तु में भाव-चिन्तन की स्वतन्त्रता देकर उनके मोह को दूर कर दिया।

अर्जुन अब मोहोऽयं विगतो मम (भ०गी० ११.१) की परिस्थिति से युक्त होकर प्रभु के मोहातीत रूप को नयनों से निहारने के लिये ललचाने लगे। द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम् (भ०गी० ११.३) यह कहकर भावकातर हो गए। अहो! कितना बड़ा भाग्य है पृथापुत्र अर्जुन का? आज देवदुर्लभ प्रभु के रूप को निहारकर अपूर्व लाभ ले रहे हैं। और शरणागत-वत्सल भगवान् भी दिव्यं ददामि ते चक्षुः (भ०गी० ११.८) कहकर लुटा रहे हैं अपनी अलौकिक रूप-माधुरी को। इससे बड़ा शरणागति का अपूर्व लाभ क्या होगा? जहाँ पर भगवान् साक्षात् शरणागत अर्जुन को विराट् रूप से ऐश्वर्य-माधुरी, चतुर्भुज रूप से सौन्दर्य-माधुरी एवं द्विभुज रूप से भुवनमोहिनी रूप-माधुरी का दर्शन करा रहे हैं।

भगवान् के अलौकिक विराट् रूप का दर्शन करके २६ श्लोकों में उसका वर्णन करते हैं। पश्चात् कालरूप में भगवान् का परिचय पाकर ११ श्लोकों में स्तोत्र-पुष्पाञ्जलि प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें ४४वें श्लोक में तो दैन्य की पराकाष्ठा हो गई है। यहाँ अर्जुन पूर्ण शरणागति की मुद्रा में प्रणाम करके प्रभु को प्रसन्न करते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् कर अपने अपराधों के लिये तीन उपमाओं की भङ्गिमा से क्षमा माँगते हैं। लगता है जैसे अर्जुन से तीन भूल हो गई हैं –

(१) इन्होंने प्रभु को रथं स्थापय (भ०गी० १.२१) कहकर आदेश दिया।

(२) न योत्स्ये (भ०गी० २.९) युद्ध नहीं करूँगा कहकर भगवान् की अवज्ञा की।

(३) बुद्धिं मोहयसीव मे (भ०गी० ३.२) आप मेरी बुद्धि को मोहित-सी कर रहे हैं, कहकर

भगवान् के प्रति अविश्वास किया।

अतः तीन उपमाओं का प्रयोग करते हैं। जैसे पिता पुत्र की त्रुटि को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरी आदेश रूप भूल को क्षमा करें। जैसे मित्र मित्र की त्रुटि को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरी द्वितीय भूल पर ध्यान न दें। जैसे प्रिय अर्थात् पति प्रिया अर्थात् पत्नी की त्रुटि को सह लेता है, उसी प्रकार मेरे तृतीय अपराध को भूल जाइये। यथा –

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

(भ०गी० ११.४४)

अनन्तर प्रभु ने भयभीत धनञ्जय को निर्भय किया। इससे बड़ा और शरणागति का क्या फल हो सकेगा? यथा –

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥

(भ०गी० ११.४९)

इस अध्याय का उपसंहार कर भगवान् ने कण्ठरवेण कह दिया कि इस प्रकार का रूप तुम्हारे अतिरिक्त किसी ने आज तक नहीं देखा – यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् (भ०गी० ११.४७)। इस प्रकार मैं अनन्य भक्ति से ही देखा या जाना जा सकता हूँ –

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(भ०गी० ११.५४)

अतः भगवान् ने इस अध्याय में विराट् रूप, अभयंकर चतुर्भुज रूप तथा प्रलयंकर द्विभुज रूप दिखाकर अर्जुन में अनन्य-शरणागति समाहित करते हुए इस विश्वरूपदर्शनयोग को भक्तिरस में विश्राम दिया।

बारहवाँ अध्याय तो भक्तियोग के नाम से प्रसिद्ध ही है, इसमें विशेष वक्तव्य अपेक्षित नहीं, तथापि प्रकृत लेख की संगत की दृष्टि से कुछ कहना आवश्यक है। अर्जुन ने अपने शरण्य भगवान् मुरली-मनोहर के त्रिविध सगुण रूपों का दर्शन कर लिया है। उधर शास्त्रों में एवं भगवान् के भी श्रीमुख से निर्गुण रूप की चर्चा सुनी है। अब अन्तर्द्वन्द्व का पूर्ण अवसर है कि शरणागत किस रूप की प्रधानता से उपासना करे? अतः प्रश्न कर दिया कि दोनों के उपासकों में कौन श्रेष्ठ है? भगवान् ने सरलता से उत्तर दिया कि जो मुझ साकार को भजते हैं वे युक्ततम हैं क्योंकि निर्गुणोपासना अत्यन्त क्लिष्ट है, वहाँ साधक को सब कुछ करना पड़ता है फिर भी पतन का भय बना रहता है। सगुणोपासक के लिये तो भगवान् उत्तरदायी हैं। वे सर्वतोभावेन शरणागत भक्त को मृत्युसंसारसागर से अपनी आजानुबाहुओं द्वारा

बाहर खींच लेते हैं यथा – आजानुबाहुः सुशिराः (वा०रा० १.१.१०)। अतः सगुणोपासना में भगवान् का पूर्ण उत्तरदायित्व है और शरणागति बिना आकार के सम्भव ही नहीं है। जैसे कुएँ में पड़े हुए व्यक्ति को रस्सी का अवलम्ब देकर बाहर खड़ा हुआ व्यक्ति उसी रस्सी को पकड़कर सरलता से खींच लेता है, उसी प्रकार संसार कूप में पतित हम पामरों को निकालने के लिये प्रभु ने भी अपने दिव्यगुणगण रूप अनन्त रस्सियों को लटका रक्खा है। हम किसी एक का सहारा ले लें। प्रभु हमें अवश्य अपनी ओर खींच लेंगे यथा –

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(भ०गी० १२.७)

भगवान् कहते हैं हे अर्जुन! उन मुझमें दत्तचित्त प्रेमीभक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-समुद्र से उद्धार करता हूँ। अर्जुन को आदेश दिया एवं शरणागत की सुगमता के लिये क्रम से अभ्यास, ज्ञान, ध्यान, कर्मफलत्याग एवं शान्ति – इन पाँच सुगम-से-सुगम विधाओं का वर्णन करके अन्त के आठ श्लोकों में अपने प्रपन्न भक्तों के दिव्य गुणगणों को गाते हुए भक्तियोग का उपसंहार किया।

इस प्रकार दूसरे अध्यायषट्क में भगवान् ने शरणागति की मनोरम मीमांसा प्रस्तुत की। अब अन्त के छः अध्यायों में शरण्य का स्वरूप समझा रहे हैं। नवें अध्याय के अठारहवें श्लोक में भगवान् अपने को ही समस्त चराचर प्राणिमात्र का शरण कह चुके हैं – निवासः शरणं सुहृत् (भ०गी० ९.१८)। शरण शब्द का अर्थ रक्षक तथा आश्रय है – शरणं गृहरक्षित्रोः (अ०को० ३.३.५३)। अर्थात् भगवान् ही सकल जीवों के रक्षक एवं आश्रय हैं। अतः वही सर्वलोकशरण्य भी हैं। शरणागत को शरण्य का स्वरूप जानना आवश्यक है।

वस्तुतः शरणागत के दायित्वों की तालिका ही वेद का कर्मकाण्ड है, जिसका विवेचन प्रथम छः अध्यायों में किया गया है। शरणागति की मीमांसा ही उपासनाकाण्ड है जिसका निरूपण ७वें अध्याय से लेकर १२वें अध्याय तक किया गया है। अब शरण्य परमात्मा के विषय में शेष छः अध्यायों के द्वारा विवेचन कर रहे हैं, जिसे ज्ञानकाण्ड के नाम से जाना जाता है।

शरीर क्षेत्र है और परमात्मा क्षेत्रज्ञ अर्थात् अन्तर्यामी। प्रायः लोग क्षेत्रज्ञ शब्द से आत्मा समझ लेते हैं, पर उन्हें भ्रम है। प्रत्येक शरीर में क्षेत्रज्ञ अर्थात् अन्तर्यामी रूप से परमात्मा निवास करते हैं। यहाँ क्षेत्रज्ञान तथा ज्ञेय की विशद चर्चा है। ज्ञान के लक्षणों में अनन्यशरणागतिपूर्वक अव्यभिचारिणी भक्ति का वर्णन है। यथा मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी (भ०गी० १३.११)। ज्ञेय साक्षात् परमात्मा है।

वैष्णव दर्शन में परमात्मा के पाँच रूपों का वर्णन है –

(१) पर – अर्थात् विराट्।

(२) अन्तर्यामी – सबके हृदय में रहने वाले।

(३) व्यूह – वासुदेव, अनिरुद्ध, संकर्षण।

(४) विभव – राम, कृष्ण आदि।

(५) अर्चा – शालग्राम, रामललाजी प्रतिमा-रूप भगवान्।

इन्हीं पाँचों रूपों का इस अध्याय के २२वें श्लोक में ललित रूप में वर्णन है। उपद्रष्टा याने अन्तर्यामी। क्योंकि यही समीप में रहकर सब कुछ देखते हैं उप समीपे पश्यतीति उपद्रष्टा। अनुमन्ता याने पर अथवा विराट्। अनुमन्यत इत्यनुमन्ता जो अनुमति दिया करते हैं, यही विराट् रूप में सबके प्रेरक हैं। भर्ता याने व्यूह अर्थात् बिभर्ति धारयति पोषयति यः स भर्ता। यही सबका धारण-पोषण करते हैं। भोक्ता अर्थात् अर्चा याने भुङ्क्ते भक्तभावनानुसारं सेवाफलं यः स भोक्ता। यही भक्त की भावनानुसार अर्पित किये हुए पत्र, पुष्प, जल, फल, नैवेद्य आदि स्वीकारते हैं। महेश्वर याने विभव। अर्थात् यही रामकृष्ण रूप से सबके महान् ईश्वर हैं। यथा –

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(भ०गी० १३.२२)

इस प्रकार क्षेत्रज्ञ रूप अन्तर्यामी की महिमा कहकर भगवान् ने शरण्य के स्वरूप-चिन्तन में ही इस अध्याय का समापन किया।

वह शरण्य प्रभु सगुण हैं ऐसा बारहवें अध्याय में कहा जा चुका है, तो क्या उनमें प्राकृत सत्त्व, रजस्, और तमस् गुण हैं? इसी सन्दर्भ में अर्जुन को भगवान् ने चतुर्दश अध्याय में तीनों गुणों का बन्धन-परक होना तथा अपना इनसे परे होना कहा और अपने सेवक को भी गुणातीत सूचित किया –

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(भ०गी० १४.२६)

इस दृष्टि से अपने को प्राकृत गुणों से अतीत कहने के लिये प्रसंगवश गुणत्रयीविभागयोग की चर्चा की और अन्त में शरणागत को अव्यभिचरित भक्तियोग से सेवा करने की आज्ञा देकर चतुर्दश अध्याय का भी अपने गुणातीत-स्वरूप-कथन में ही पर्यवसान किया।

सांसारिक संबन्ध की कल्पना मिथ्या है। भगवत्संबन्ध ही सत्य है, क्योंकि भगवान् सत्य

हैं। ईश्वरसंबन्ध से संसार सत्य है, क्योंकि वह ईश्वर का शरीर है। यथा जगत्सर्वं शरीरं ते (वा०रा० ६.११७.२७) और –

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुगपानी॥

(रा०च०मा० १.८.२)

यही संसार की संबन्धफलान्त अविद्या माया है, इसी से हम विपत्ति जाल में पड़े हुए हैं –

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बश कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

(रा०च०मा० ३.१५.२-३)

भगवान् की शरणागति के लिये यह अत्यन्त बाधक है –

ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥

(रा०च०मा० ४.७.१७)

इसी कुटुम्ब-मोह के कारण नारायण के चिरन्तन सखा अर्जुन को भी कर्तव्यविस्मृति हो गई –

जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

(रा०च०मा० २.१८५)

इसी विषय को एक लौकिक दृष्टान्त से सरलतया समझा जा सकता है। जैसे किसी कार्यालय में शासन की ओर से किसी कार्य को सम्भालने के लिये एक अधिकारी नियुक्त होता है, उसी के सहयोग के लिये प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी तक के सहकर्मी नियुक्त होते हैं। सबके वेतन, आवास आदि की व्यवस्था शासन से होती है। सहकर्मी लोग केवल कार्यालय में अधिकारी के साथ जुड़कर अपना-अपना व्यक्तित्व निभाते हैं, उनका पारस्परिक संबन्ध केवल कार्य को सम्पन्न करने के लिये ही होता है, कार्यालय से छूटने के बाद पुनः सब लोग अपनी घर-गृहस्थी में लग जाते हैं। ठीक इसी प्रकार इस संसार रूप विशाल कार्यालय में हमारे साँवले सरकार ने हम सबको किसी-न-किसी कार्य के लिये नियुक्त किया है। कर्मों की योग्यतानुसार किसी को अधिकारी, माता, पिता, पति, आदि रूप में, किन्हीं को सहकर्मी अर्थात् पुत्र, पुत्री आदि रूप में नियुक्त किया है। हम सबको ममता-रहित होकर इस संसार रूप कार्यालय में भगवान् के द्वारा दिये हुए कर्तव्य को सम्पादित करने के लिये ही एक-दूसरे से एकवाक्यता रखनी चाहिये। इसके पश्चात् कोई किसी का नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि हम संसार में परस्पर द्वेष करें। जैसे सहकर्मी अपने अधिकारी को आदर देता है, उसी प्रकार हम अपने पूज्यों को आदर दें और जैसे न्यायशील अधिकारी अपने सहकर्मी को प्रेम एवं वात्सल्य देता है वही व्यवहार हम अपने लघु जनों के साथ करें।

इसी संसार की संबन्ध-कल्पना को क्षणभङ्गुर सिद्ध करने के लिये भगवान् ने १५वें अध्याय

के प्रारम्भ में अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष की परिकल्पना की है। यह संसार अश्वत्थ वृक्ष है। न श्वस्तिष्ठतीत्यश्वत्थः। अर्थात् जो कल नहीं रुक सकता। भाव यह है कि इस संसार-वृक्ष की स्थिति इतनी अनिश्चित है कि एक-एक क्षण के लिये भी इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता –

क्षणादूर्ध्वं न जानीयाद्विधाता किं करिष्यति॥

(अभियुक्त-वचन)

यह रूपरहित है, इसका आदि-अन्त भी नहीं है क्योंकि संबन्ध-कल्पना सर्वथा आकार एवं आधार से हीन है, अतः इसे दृढ़ असंग रूप शस्त्र से काट देना चाहिये, क्योंकि संबन्ध-कल्पना को अनासक्ति रूप शस्त्र से ही समाप्त किया जा सकता है। पश्चात् उस परमपद परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिये। यथा –

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(भ०गी० १५.४)

संसारसंबन्धबाध के बिना शरणागत के हृदय में सेवक-सेव्य-भाव दृढ़ नहीं हो सकता, अतः भगवान् ७वें श्लोक में जीव को अपना सनातन अंश कहते हैं –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(भ०गी० १५.७)

यहाँ यह ध्यान रहे कि शरणागत को अर्थपञ्चक का जानना आवश्यक होता है। अर्थपञ्चक में पाँच वस्तुएँ ज्ञेय होती हैं –

(१) स्वस्वरूप – अपना अर्थात् जीव का स्वरूप।
(२) परस्वरूप – परमात्मा का स्वरूप।
(३) उपायस्वरूप – परमात्मा के ज्ञान में उपयोगी उपाय का स्वरूप।
(४) विरोधिस्वरूप – परमात्मा को जानने में बाधक वस्तु का स्वरूप।
(५) फलस्वरूप – परमात्मज्ञान के फल का स्वरूप।

इन पाँचों विषयों का वर्णन करुणावरुणालय भगवान् श्रीकृष्ण ने १५वें अध्याय में किया है, जिनमें १ से ३ तक विरोधी अर्थात् माया के स्वरूप का वर्णन है, ४ से ६ तक भगवत्प्राप्ति के उपायस्वरूप का वर्णन है, ७ से ११ तक स्वस्वरूप अर्थात् जीव की स्वरूप-मीमांसा का वर्णन है, और १२ से १८ तक परस्वरूप परमात्मा के मङ्गलमय स्वरूप का चिन्तन किया गया है। अन्त के दो श्लोकों में फलस्वरूप का वर्णन करके प्रभु ने अर्थपञ्चक के ज्ञान से कृतकृत्यता रूप परिणाम बताया –

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

(भ०गी० १५.२०)

और ज्ञान प्राप्त करने पर भी भजन को ही परम पुरुषार्थ प्रमाणित किया –

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(भ०गी० १५.१९)

इस प्रकार यह १५वाँ अध्याय शरणागति के अङ्गभूत अर्थपञ्चक के विवेचन में सम्पन्न हुआ।

देवो भूत्वा देवं यजेत् इस अभियुक्तवचन के अनुसार देवाधिदेव भगवान् की शरण में जाकर शरणागत देवरूप होकर सर्वदेवमय भगवान् का भजन करता है। उसे आसुरी सम्पत्ति वालों से सर्वथा विमुख रहकर आसुरी भावना के दमन में प्रयास करना चाहिये एवं शरणागत अर्जुन को असुरों की भाँति भय-विषाद करणीय नहीं है, इसलिये शरण्य-स्वरूप के ही परिप्रेक्ष्य में भगवान् इस १६वें अध्याय में दैवासुरसम्पद्विभागयोग समझा रहे हैं। तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्ति के लक्षण कहकर शोक न करने के लिये आदेश करते हैं। यथा –

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

(भ०गी० १६.५)

पश्चात् त्याज्य का ज्ञान हुए बिना त्याग सम्भव नहीं है। इसलिये ७वें श्लोक से १८वें श्लोक तक आसुर भाव का वर्णन करते हैं। पश्चात् उन्हें अधम योनियों में प्रेषित करने की चर्चा करते हैं –

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

(भ०गी० १६.१९)

पुनः अन्त के श्लोकों में कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र पर ही निर्भर रहने के लिये कहते हैं। अर्थात् समस्त शास्त्रों का यही सिद्धान्तसंगत निर्णय है कि अन्ततोगत्वा जीव परमेश्वर की शरण में आकर उन्हीं के आदेशों का पालन करें यथा –

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(भा०पु० २.३.१०)

शिव अज शुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥

(रा०च०मा० ७.१२२.१३)

इस प्रकार प्रभु ने इस अध्याय में अपने मङ्गलमय स्वभाव का परिचय दिया, जिससे वे शरणागत को दैवी सम्पत्ति से युक्त कर सकें एवं भगवद्विमुख आसुरभाववालों की क्या विडम्बना होती है, इसी विषय के स्पष्टीकरण हेतु १६वें अध्याय के उत्तरार्ध में आसुरी सम्पत्ति का वर्णन किया और पुनः कर्माकर्म के निर्णय के लिये वेद को ही प्रमाण रूप में उपस्थित कर इस अध्याय का भी शरणागति के अङ्गभूत शरण्यस्वरूप की मीमांसा में ही विश्राम किया क्योंकि सम्पूर्ण वेदों द्वारा एकमात्र भगवान् ही वेद्य हैं। यथा वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (भ०गी० १५.१५)। परमात्मज्ञान के पूर्व सात्त्विकी श्रद्धा का होना आवश्यक है, यथा श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् (भ०गी० ४.३९)। शरणागत को भी सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६) की दृष्टि से भागवतधर्म का अनुष्ठान करना होगा। वह भागवतधर्म श्रद्धा के अभाव में शक्य नहीं है, यथा –

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥

(रा०च०मा० ७.९०.४)

अतः अपने ज्ञान में श्रद्धा का उपयोग जानकर भगवान् ने १७वें अध्याय में श्रद्धात्रयविभाग की विवेचना की। सात्त्विकश्रद्धासम्पन्न लोग देव पूजक होते हैं, तथा राजसी श्रद्धा से सम्पन्न व्यक्ति यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं एवं तामसी श्रद्धालु व्यक्ति प्रेतों को पूजते हैं। अतः शरणागत को इन तीनों से सावधान रहने का आदेश दिया। भाव यह कि भगवदाराधन शास्त्रविहित सात्त्विकश्रद्धा से सम्पन्न होकर करना चाहिये। नहीं तो तुलसीदास का यही दोहा चरितार्थ होगा –

तुलसी परिहरि हरि हरहि पाँवर पूजहिं भूत।
अंत फजीहत होएगी ज्यों गनिका के पूत॥

(दो० ६५)

शरणागत को प्रभु ने उन कठोर अशास्त्रीय व्रतों से रोका जिनके करने से भूख-प्यास या शारीरिक दुर्बलता के कारण भजन में बाधा होती है यथा –

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

(भ०गी० १७.६)

भगवान् कहते हैं कि जो शरीररूप से स्थित भूतसमुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुरी-स्वभाव वाले जान।

शास्त्र से विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणों द्वारा शरीर को सुखाना एवं भगवान् के अंशस्वरूप जीवात्मा को क्लेश देना भूतसमुदाय को और अन्तर्यामी परमात्मा को कृश करना है। पश्चात् भगवान् ने इन्हीं श्रद्धाओं के अनुसार आहार, यज्ञ, तप एवं दान के तीन-तीन भेद कहकर ॐ से यज्ञादि क्रिया, तत् से निष्काम क्रिया एवं सत् से श्रद्धासम्पन्न क्रिया का उल्लेख किया। पश्चात् श्रद्धा के अभाव में किये हुए समस्त कार्यों को असत् बताया। इस प्रकार इस अध्याय में परमात्मज्ञान में उपयोगी श्रद्धा का निरूपण करके इसका भी परमतात्पर्य शरणागति में ही गतार्थ किया।

शरणागति सर्वस्व-समर्पण से होती है, उसमें स्वत्व का त्याग सर्वथा अपेक्षित है यथा – त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः (वा०रा० ६.१७.१६)। साथ-ही-साथ पूर्व त्यागी हुई वस्तुओं का संस्कार भी सर्वथा विस्मरणीय है। जैसे किसी ने मद छोड़ा पर मन से उसका स्मरण कर रहा है तो भगवान् की भाषा में उसे मिथ्याचारी माना जाएगा –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(भ०गी० ३.६)

अतः त्याग मनसा, वाचा, कर्मणा होना चाहिये –

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

(भ०गी० ३.७)

गोस्वामीजी इस प्रकार के त्याग की वन्दना कर रहे हैं –

जाके मनते उठि गई तिल तिल तृष्ना चाहि।
मनसा वाचा कर्मना तुलसी बंदत ताहि॥

(वै०सं० २६)

पर एक प्रश्न यहाँ स्वाभाविक है कि शरणागत को संन्यासी होना उचित है या कर्मयोगी? यद्यपि न्यासस्तु शरणागतिः इस पूर्वाचार्य वचन के अनुसार संन्यास शब्द का अर्थ सम्यक् न्यास अर्थात् श्रेष्ठ शरणागति है, पर इसका निर्णय अर्जुन भगवान् के ही श्रीमुख से सुनना चाहते हैं। यदि कर्मयोग का तात्पर्य कर्मफल के त्याग में ही है तथा संन्यास का कर्मों के त्याग में, तो उन दोनों में संन्यास ही उचित है। कारण कि कर्म को करके पुनः उसके फल के त्याग की अपेक्षा कर्म का न करना ही उचित है। जैसे कीचड़ में डालकर हाथ धोने की अपेक्षा कीचड़ में हाथ न डालना ही श्रेयस्कर है – प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् (प०त० २.१६५)। परमेश्वर के शरणागत को किसी ऋण का बन्धन नहीं होता, न तो भगवच्छरणागत किसी अन्य देवी-देवता का किंकर ही होता है, क्योंकि उसने सर्वशरण्य परमात्मा को शरण्य

रूप में वरण कर लिया है।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(भा०पु० ११.५.४१)

उसका गोत्र भी अच्युत गोत्र हो जाता है, जैसे विवाह के पश्चात् कन्या का गोत्र पति के अनुसार होता है –

पितृगोत्रस्थकन्यायाः पतिगोत्रेण गोत्रता।
तथैवाच्युतगोत्रेण रामभक्तस्य गोत्रता॥

(पूर्वाचार्य वचन)

अतः ऋषि गोत्र न होने से भगवत्प्रपन्न ऋषियों का ऋणी नहीं रहता। भगवान् की शरणागति के संकल्प मात्र से शरणागत की इक्कीस पीढ़ियों के पितृगण श्रीसाकेत अथवा गोलोक को प्राप्त कर लेते हैं, कुल पवित्र हो जाता है, माँ उस भगवद्भक्त को जन्म देकर कृतार्थ हो जाती है, पृथ्वी भी उसके पाद-पङ्कज के स्पर्श से सौभाग्यशालिनी बन जाती है, पितृगण भी श्रीसाकेत में विहार करने लगते हैं। यथा –

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भागयवती च तेन।
स्वर्गस्थिता वै पितरोऽपि धन्या लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(तुलना करें स्क०पु०मा०कौ० ५५.१४०)

इस पाठ का समर्थन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं –

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायण जेहि नर उपजे विनीत॥

(रा०च०मा० ७.१२७)

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिश्वास॥

(रा०च०मा० ७.१२६)

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाऊँ।
जों तुम्हरें मन छाड़ि छल कीन्ह राम पद ठाऊँ॥

(रा०च०मा० २.७४)

केवट ने प्रभु की शरणागति स्वीकार कर अपने पितरों को भवसागर से पार कर दिया –

पद पखारि जल पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहिं पुनि मुदित गयउ लै पार॥

(रा०च०मा० २.१०१)

अतः पितृ-ऋण से भी शरणागत मुक्त हो जाता है, क्योंकि वह अपने भजन द्वारा ही अपने पूर्वपुरुषों को भवसिन्धु से पार कर देता है। जबकि और लोग पुत्र के दिये हुए जलपिण्ड आदि से स्वर्ग की कामना करते हैं, सर्वदेवमय श्रीहरि की शरणागति मात्र से उसपर देव-ऋण का भी उत्तरदायित्व नहीं रह जाता, अब तो परमेश्वर शरणागत के लिये यत्किञ्चित् करणीय शेष नहीं रहा। यथा –

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(भ०गी० ३.१७-१८)

अत एव अर्जुन ने भगवान् से इसी तात्पर्य से प्रश्न किया कि संन्यास और त्याग का अन्तर कहा जाए क्योंकि यदि किसी भी कर्म को करने की व्यवस्था शरणागत के लिये नहीं है, तो उसे संन्यास अर्थात् कर्मत्याग ही उचित है। वचनरचनानागर नागरीचित्तहरण नटवर कृष्ण अर्जुन का अभिप्राय समझ गए और बोले – सकाम अर्थात् ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् (मी०सू०शा०भा० ६.१.१) इत्यादि श्रुतियों से विहित कर्मों के न्यास को संन्यास एवं सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। तात्पर्य यह कि काम्य कर्म ही मोक्ष में बाधक हैं। नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, उपासना सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी व्यक्ति संन्यास धर्म से च्युत नहीं माना जाता। यथा –

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

(भ०गी० १८.२)

भगवान् ने यहाँ अपना स्पष्ट निश्चय कहा कि मेरे शरणागत को समस्त कर्म करणीय हैं पर फल और आसक्ति को छोड़कर। ज्योतिष्टोम भी यदि फल को छोड़कर किया जाए तो वह स्वर्ग के विनिमय से अपवर्ग ही देगा। यथा –

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(भ०गी० १८.६)

भगवान् के मत में कर्म नहीं प्रत्युत फल बाधक हैं, क्योंकि शरीरधारी सम्पूर्ण कर्म छोड़ ही नहीं सकता –

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(भ०गी० १८.११)

यदि छोड़ना भी चाहे तो प्रकृति कराए बिना नहीं रहती –

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

(भ०गी० १८.६०)

इसलिये स्व-स्व-वर्णानुसार नियत कर्म – नित्य-विहित सन्ध्या, गायत्रीजप आदि – शरणागत को अवश्य करने चाहिये – यह भगवान् की आज्ञा है। अन्यथा शरणागत को भी भगवान् की आज्ञा के उल्लङ्घन से पाप लगने की सम्भावना है, या उसकी निष्ठा से भी च्युति हो सकती है, अतः भगवान् के शरणागत को भी यथाशक्य भगवत्समर्पण बुद्धि से शास्त्रविहित कर्म करने ही चाहिये। इसी व्यवस्था को बताने के लिये भगवान् ने इस अध्याय में क्रम से ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति तथा सुख के सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों के अनुसार भेद, लक्षण, व्यवस्था कहकर पुनः वर्णों की संक्षिप्त तालिका कही।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब शरणागत अच्युतगोत्रीय हो गया तब उसके समक्ष अपने वर्णानुसार कर्मों का प्रतिबन्ध कैसा? इसका उत्तर इस प्रकार जानना चाहिये कि भगवच्छरणागत भावना से अच्युत गोत्र स्वीकारता है न कि उसका शरीर भी बदलता है, अतः शरीर के संस्कार के अनुसार उसने जिस वर्ण में शरीर स्वीकारा है, उसकी मान्यता को अक्षुण्ण रखना उसका परम कर्तव्य है। पूर्व शरीर से ही उसे रामभक्ति मिली है, अतः शरीर की वर्णव्यवस्था का उल्लङ्घन कृतघ्नता का सूचक होगा, इसलिये भगवान् ने दोष-युक्त भी सहज अर्थात् वर्ण-सम्बन्धी कर्म को छोड़ने की आज्ञा नहीं दी –

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

(भ०गी० १८.४७)

जो भगवद्भजन के प्रभाव से शरीर और उसके धर्म को भूल चुके हैं, उनके लिये कर्मों का बन्धन नहीं। इसीलिये गोस्वामीजी ने भगवद्भक्ति की प्राप्ति के पश्चात् आश्रम जनित श्रम के त्याग की बात कही है, पर वर्णकर्मों का त्याग उनको भी इष्ट नहीं है –

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारी।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

(रा०च०मा० ४.१६)

अत एव जब तक शरीर के संस्कारों का स्मरण है, तब तक शरणागत यथाशक्य अपने

वर्णानुसार कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ मन से उनके फलों को प्रभु के श्रीचरणारविन्द में अर्पित कर दे – यही प्रभु का मुख्य अभिप्राय है। यदि शरणागत ब्राह्मण सन्ध्यावन्दनादि-पूर्वक श्रीराम-कृष्ण मन्त्र-जपादि करता है तो उसके जीवन में स्वर्णसौरभसंयोग बन जाता है। इस सिद्धान्त को गोस्वामीजी ने भी एक गणित के सिद्धान्त के दृष्टान्त से स्पष्ट करके समझाया है –

राम नाम इक अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गये कछु हाथ नहीं अंक रहे दस गून॥

(दो० १०)

तात्पर्य यह है कि जैसे एक संख्या के साथ यदि शून्य हो तो उसका दस गुना भाव बढ़ जाता है वैसे ही यदि श्रीराम-नाम जपके साथ वर्णानुसार कर्म का अनुष्ठान हो तो वह दशगुणित फलदायक होता है, जैसे एक अंक के बिना शून्य का कोई अस्तित्व नहीं उसी प्रकार श्रीराम-नाम-जप के बिना अन्य साधन का कोई अस्तित्व नहीं। किन्तु शून्य के बिना एक अंक का अपना अस्तित्व रहता है। पर शून्य यदि साथ हो जाए तो उसमें दशगुनी वृद्धि हो जाती है। ठीक उसी प्रकार साधना के अभाव में भी रामनाम का अपना अस्तित्व रहता है, पर वर्णानुसार कर्मों से चार चाँद लग जाता है। यहाँ भावुक को यह ध्यान रहे कि शबरी, कोल, किरात, व्याध, गणिका आदि भगवान् के प्रिय कृपापात्र क्यों बने? इसलिये कि उन्होंने अपनी वर्ण-व्यवस्था का उल्लङ्घन नहीं किया। व्याध भगवान् का शरणागत होकर भी अपना धर्म नहीं छोड़ पाया। शबरी भगवत्प्रेममयी होती हुई भी सतत अपने ही वर्णानुसार धर्म का पालन करती रही। वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने वाले भगवद्भक्त के पास समस्त सद्गुण उसी प्रकार आ जाते हैं, जिस प्रकार बिना बुलाई हुई समस्त नदियाँ अकस्मात् समुद्र में आके मिल जाती हैं। शबरी को प्रभु ने तीन बार भामिनी शब्द से सम्बोधित किया है यथा – कह रघुपति सुनु भामिनि बाता (रा०च०मा० ३.३७.४), सोइ अतिशय प्रिय भामिनि मोरे (रा०च०मा० ३.३८.७), जनकसुता कइ सुधि भामिनी (रा०च०मा० ३.३८.१०)। भामिनी शब्द सकल-सद्गुण-सम्पन्न महिला के लिये होता है। भगवान् ने शबरी को समस्त भक्तिगुणों से युक्त बताया सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे (रा०च०मा० ३.३८.७)। परम पवित्रता की मूर्ति वह माँ भला अपने मर्यादा-पुरुषोत्तम राघव को जूठे फल क्यों नहीं खिलाएगी? श्रीगोस्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी यह चर्चा स्पष्ट रूप में नहीं की है, किन्तु व्यञ्जना में शबरी के जूठे फल खिलाने की बात स्वीकारी है। यथा गोस्वामीजी की शबरी तो अपने प्यारे राघव को परम पवित्र कन्द, मूल, फल खिलाती है –

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(रा०च०मा० ३.३६)

यहाँ खाए शब्द देहलीदीपकन्याय से कंद मूल फल तथा प्रभु राम इन दोनों के साथ अन्वित है। अर्थात् शबरी खाए कंद मूल फल प्रेम सहित राम कँह आनि दिये, प्रभु बारम्बार बखानि प्रेम सहित खाए। शबरी ने प्रेमपूर्वक थोड़ा-थोड़ा चख-चख कर स्वादिष्ट कन्द मूल फल श्रीराम को लाकर दिये। और प्रभु ने बार-बार बखानकर उन जूठे फलों को खाया अर्थात् भक्षण किया, पाया, आरोगा। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रेमपत्तनम् में भी स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि माता शबरी द्वारा प्रेमपूर्वक फलों की मिठास की परीक्षा लेने के लिये थोड़ा-थोड़ा चखकर दिये हुए मात्र चार फलों को खाकर भगवान् श्रीराम ने शबरी को भक्त-चूडामणि बना दिया। यथा –

प्रेम्णा विशिष्टमुच्छिष्टं मुक्ताफलचतुष्टयम्।
कृता रामेण भक्तानां शबरी कवरीमणिः॥

प्रे०प० २३

शरणागति में भक्त का यह अपचार भी क्षन्तव्य है। व्याध और शबरी की भाँति विदुर परम भागवत ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी अपने दासीपुत्रोचित कर्म का उल्लङ्घन नहीं कर सके और धृतराष्ट्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के लिये भगवान् सनत्सुजात का आह्वान किया। तात्पर्य यह कि भगवान् की कृपा मेघमाला की भाँति निरन्तर कल्याण रूप जल की वर्षा करती रहती है, वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी की भाँति मुनिगण भी उसे पीकर तृषा बुझाते हैं तथा पृथ्वी पर जमे हुए तृण, गुल्मलता की भाँति वर्णाश्रम की सृष्टि से निम्न शरणागत भी उससे सराबोर हो जाते हैं। यदि कदाचित् कोई वायुयान द्वारा बादल से ऊपर चला जाए तो बरसता हुआ भी वह बादल ऊपर गए हुए व्यक्ति को जल नहीं दे सकता, उसी प्रकार यदि कोई प्रमादवश अपनी सीमा का अतिक्रमण करे, तो वह भगवत्कृपा का भागी नहीं बन सकता, क्योंकि भगवान् प्रायः निम्न धरातल पर आकर ही कृपा-कादिम्बिनी का आविर्भाव करते हैं। अत एव इस अध्याय के ४५वें श्लोक में भगवान् ने अपने कर्मों के करते रहने की आज्ञा दी है। ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति ही सिद्ध हुई तथा उसी को साध्य सिद्ध किया। यथा –

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(भ०गी० १८.५५)

यहाँ अभिजानाति इस पद में प्रयुक्त अभि उपसर्ग अत्यन्त सारगर्भित है, अर्थात् भक्त्या मामभितो निर्गुणरूपेण सगुणरूपेण च जानाति। भक्तिसम्पन्न भक्त मुझे दोनों रूप में जान

लेता है, निर्गुण रूप को हृदय का अधिदेवता बनाता है, तथा सगुण के पदपङ्कज को पलक से सहलाता है। यथा –

हियँ निर्गुन नयनन सगुन रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

(दो० ७)

विरोधी तत्त्व न रहने पर वाक्य निश्चय-परक हो जाता है – असति बाधके सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति। इसलिये भक्त्या का तात्पर्य भक्त्या एव में है अर्थात् भक्ति से ही मुझे जाना जा सकता है, जो शरणागति के बिना सम्भव नहीं, और अन्त में वही शेष रहती है – मद्भक्तिं लभते पराम् (भ०गी० १८.५४)। इस प्रकार भक्ति ज्ञान की प्रतिष्ठा एवं ज्ञान की परम निष्ठा भी है, अतः हम अर्जुन को निर्णीत आदेश देते हैं कि कर्म करते हुए मन से मुझमें समर्पण करो, दिव्य शान्ति प्राप्त होगी –

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(भ०गी० १८.५७)

मुझमें मन लगाकर समस्त विपत्तियों को पार कर लोगे। भगवान् ने स्पष्टता के लिये ईश्वर के स्थान का निर्देश किया कि वह सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप में निवास करते हैं और सम्पूर्ण भाव में उन्हीं की ही शरण में जाओ –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(भ०गी० १८.६१-६२)

अन्त में यथेच्छसि तथा कुरु (भ०गी० १८.६३) कहकर उनको कुछ वैचारिक स्वतन्त्रता दी, इससे अर्जुन की विकलता का अङ्कन करना इष्ट था। अर्जुन के मन में कार्पण्य के साथ नैराश्य आया कि अभी भी मेरा समर्पण पूर्ण नहीं हुआ, प्रभु को मुझपर अभी तक विश्वास नहीं है, अब मैं क्या करूँ? शरणागत की अपनी इच्छा ही कैसी? प्रभो! अब मुझे आप नहीं बहका सकते, अब तो जो आप कराएँगे मैं वही करूँगा। इस प्रकार निश्चय करके वे मौन रहे। अर्जुन को कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय में असफल देख भगवान् ने उन्हें प्रथम चार आदेश दिये –

(१) मन से मनन (मन्मना भव भ०गी० १८.६५)।
(२) बुद्धि से भजन (मद्भक्तो भव भ०गी० १८.६५)।
(३) अहं से यजन (मद्याजी भव भ०गी० १८.६५)।

(४) चित्त से नमन (मां नमस्कुरु भ०गी० १८.६५)।

चार आदेशों से भगवान् ने शरणागत के हृदय में आने वाली चार युगवृत्तियों की ओर भी संकेत किया। भाव यह है कि जिस समय हृदय में कृतयुग की वृत्ति आए, उस समय मुझमें मन लगाकर मनन करो। जब मन में त्रेता की वृत्ति आए तब भजन करो, अर्थात् मेरे अवतार-चरित्रों का चिन्तन करो। जिस काल में मन द्वापर की वृत्ति से अवच्छिन्न हो उस समय यजन करो। तथा जब कलि के प्रभाव से वृत्ति दूषित हो जाए अर्थात् कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा (रा०च०मा० ७.१०४.५) की परिस्थिति बन जाए उस समय मुझे नमन करो, क्योंकि मुझे दण्डवत् करके कोई दण्ड नहीं पाता। इस प्रकार चार आदेशों से भगवान् ने शरणागत को काम, क्रोध, लोभ, मोह से ऊपर उठने का सम्बल दिया। अनन्तर सत्य की शपथ लेकर अर्जुन के समक्ष प्रतिज्ञा ली कि इन चार प्रक्रियाओं को करता हुआ भावापन्न साधक तो मुझको ही प्राप्त होगा। चार आदेशों से भगवान् ने अपने चतुष्पादविभूतिमय विग्रहचतुष्टय का भी स्मरण करने के लिये संकेत दिया। भगवान् के चार विग्रह हैं – नाम, रूप, लीला, धाम –

रामस्य नामरूपञ्च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥

अर्थात् मेरे नाम का मनन करो, मेरे धाम का भजन अर्थात् सेवन करो, मेरी लीला का यजन करो तथा मेरे रूप को नमन करो। इस प्रक्रिया से अन्त में मुझको ही प्राप्त होगे। मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो। गीता एक न्यायाधीश का निर्णयपत्र है जिसके अन्तिम दो श्लोक समस्त वक्तव्य के निष्कर्ष रूप में कहे गए हैं, जिनमें शरणागति के अतिरिक्त किसी भी विषय की कोई चर्चा नहीं है। इस मीमांसा से गीताजी का पूर्ण तात्पर्य शरणागति में ही पर्यवसन्न होता है, अतः अत्यन्त संक्षिप्त सर्वगुह्यतम वाक्य का उपसंहार करते हैं कि सम्पूर्ण धर्माधर्म के निर्णय को छोड़कर तू मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता न कर। यद्यपि तू शरणागत हो चुका पर अभी भी धर्माधर्म के निर्णय का भार अपने शिर पर लिये हुए है, वह मुझे दे क्योंकि मैं सर्वधर्ममय हूँ – सर्वधर्ममयो हरिः (पूर्वाचार्य वचन)। मेरी शरण में आने से समस्त कर्तव्यों का पालन हो जाएगा। जैसे वृक्ष के मूल के सिञ्चन से उसकी शाखा तथा पत्तियों का सिञ्चन हो जाता है –

नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत शोकप्रद सब त्यागहू।
बिश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू॥

(रा०च०मा० ३.३८.१४)

गीता १८.६६ का एक पद प्रधानपरक होते हुए अन्यनिष्ठा का व्यावर्तक है। शरण पद का अर्थ यहाँ आश्रय है, अतः मुझको ही एकमात्र आश्रय मानकर मेरे ही चरणारविन्द की शरण में

आ जाओ। यदि यहाँ व्रज शब्द का अर्थ निश्चिनु माना जाए तो श्लोक का उत्तरार्ध व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि ब्रह्म-निश्चय से प्रज्वलित ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जला ही डालती है। यथा –

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(भ०गी० ४.३७)

फिर बाँधने के लिये पाप रहे कहाँ, जिनको नष्ट करने की भगवान् प्रतिज्ञा कर रहे हैं? अतः व्रज का निश्चिनु अर्थ मानना सर्वथा अनर्गल और अप्रामाणिक है, समस्त गीता का स्वरसतः परम तात्पर्य शरणागति में ही है। मा शुचः (भ०गी० १८.६६) – शोक मत करो, क्योंकि तरति शोकमात्मवित् (छा०उ० ७.१.३)। यहाँ आत्म का अर्थ परमात्मा है, अर्थात् परमात्मा का भक्त शोक से दूर हो जाता है, यदि आत्म शब्द का अर्थ आत्मा किया जाए फिर भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप है दास्य। इस सेवकसेव्यभाव रूप ज्ञान-रहस्य को जानकर शरणागति के द्वारा व्यक्ति मरणादि भय से मुक्त हो सकता है, प्रभु का यह निष्कर्ष अर्जुन के मन में भा गया। और ७३वें श्लोक में उन्होंने पूर्णसमर्पण रूप शरणागति सिद्ध कर दी। अब पुनः अच्युत शब्द ही अन्तिम सम्बोधन के रूप में प्रस्तुत हुआ जिसे सबसे पहले रथं स्थापय मेऽच्युत (भ०गी० १.२१) कहकर उपक्रान्त किया था –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(भ०गी० १८.७३)

भाव यह कि आप नहीं च्युत हुए मैं ही च्युत हुआ किन्तु आप अच्युत बने रहें, अब मेरा भी च्यवन नहीं होगा, अतः मैं अब आपका अनुचर हूँ, मोह नष्ट हो चुका, स्मृति प्राप्त हो गई, अब आपके वचन का पालन करूँगा। इस प्रकार पार्थ ने अपने अनुमोदन-वाक्य में गीता के शरणागति रूप तात्पर्य को ही सूचित किया। इस प्रकार अपनी बालबुद्धि से दास ने गीताजी का तात्पर्य शरणागति में ही पर्यवसन्न किया है।

शेषं राघवः प्रमाणम्।
॥ श्रीरामः शरणं मम ॥
॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तृतीय उन्मेष

मङ्गलाचरण

नवघनसुभगो गिरीशपूज्यो जनकसुतानयनाब्जरश्मिमाली।
नरपतिमणिराश्रिताधिवासो विजयत ईड्यचरित्रराघवो मे॥
विजयरथतुरङ्गसङ्गरङ्गो गुरुरखिलस्य धृताब्जहस्ततोत्त्रः।
स जयति यदुकञ्चित्रभानुर्हरिरिह हासविमुष्टशारदेन्दुः॥
विलसति भुवि भारतीव भासा भुवनललामरमाभिरामगीता।
सुजनचयचकोरचारुपीता यदुपकलाधरकौमुदीव गीता॥
सर्वगुह्यतममार्तिहा हरिर्यज्जगौ च सुहृदे विनिश्चतम्।
तद्रहस्यरससीकरैरयं स्वं चिकीर्षति जनो मनोऽमलम्॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(भ०गी० १८.६४-६६)

यह विषय पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीगीताजी के तीनों अध्यायषट्कों को शरणागति में ही पर्यवसन्न किया है। इसीलिये प्रत्येक षट्क के विश्राम में भगवान् ने भजन की ही महत्ता गाई है। यथा प्रथम षट्क के अन्त में –

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(भ०गी० ६.४७)

द्वितीय षट्क के अन्त में –

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(भ०गी० १२.२०)

तृतीय षड्क के विश्राम में भगवान् कहते हैं कि –

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(भ०गी० १८.६२)

अहो! इस ज्ञानषड्क के विश्राम को भी भगवान् ने शरणागति के सिद्धान्त-निरूपण से पर्यवसित किया, वहाँ भी बोल पड़े शरणागतभक्तवत्सल कि हे अर्जुन! तू सर्वभाव से उस परमेश्वर की ही शरण में जा। अर्जुन के लिये शरणागति का विधान करके भगवान् ने इति ते ज्ञानमाख्यातम् (भ०गी० १८.६३) इस वाक्यखण्ड से ज्ञानकाण्ड का उपसंहार सूचित किया। भगवान् श्रीकृष्ण की मान्यता में कर्म, उपासना एवं ज्ञान – ये तीनों वैदिक सिद्धान्त शरणागति रूप सुधा से ही जीवनदान पाते हैं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी भी इसी विचार से सहमत होकर मानसजी के अयोध्याकाण्ड में वशिष्ठजी के मुख से कहलाते हैं –

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जोग कुजोग ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

(रा०च०मा० २.२९१.१-२)

भगवत्पाद शङ्कराचार्यजी भी इस श्लोक के भाष्य में वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सके। यथा – तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारार्तिहरणार्थं गच्छाऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना हे भारत! ततस्तत्प्रसादादीश्वरानुग्रहात्परां प्रकृष्टां शान्तिं परामुपरतिं स्थानं च मम विष्णोः परमं पदमवाप्स्यसि शाश्वतं नित्यम् (भ०गी०शा०भा० १८.६२), अर्थात् हे भारत! तुम सर्वभाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ याने संसार के समस्त क्लेशों का नाश करने के लिये मन, वाणी और शरीर द्वारा सब प्रकार से उस ईश्वर का ही आश्रय ग्रहण करो। फिर उस ईश्वर के अनुग्रह से उत्तम शान्ति को अर्थात् उपरति को और शाश्वत स्थान को अर्थात् मुझ विष्णु के परम नित्यधाम को प्राप्त करोगे। क्योंकि शरणागति के बिना किसी भी वैदिक मार्ग की सत्ता संभव ही नहीं है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीपाद ने भी इसी तथ्य से पूर्णतया सहमत होकर श्रीगीताजी के तीनों अध्यायषड्कों को कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा एवं शुद्धा भक्ति के प्रतिपादक के रूप में स्वीकारा है। यथा –

कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा॥

(भ०गी०गू०दी० मङ्गलाचरण ८)

इनका तो डिंडिम-घोष है कि भगवद्भक्ति के बिना विघ्नबाहुल्य के कारण ज्ञान एवं कर्मनिष्ठा सिद्ध ही नहीं हो सकती। साधना में आनेवाले समस्त अन्तरायों को भगवती भक्ति अनायासेन निरस्त कर देती हैं। भगवान् भी सातवें अध्याय में इसी तथ्य की ओर इङ्गित करते हुए कहते हैं –

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

(भ०गी० ७.१४)

लोक में भी समस्त विघ्नों के विनाशार्थ भगवान् श्रीगणपति का स्मरण किया जाता है, यथा श्रीगणेशाय नमः। इसलिये कि भगवान् गणपति श्रीरामनाम-भक्ति के प्रभाव से ही प्रथम पूज्य एवं विघ्ननिवारक बने, यथा –

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥

(रा०च०मा० १.१९.४)

भक्ति माता ज्ञान एवं कर्म की मध्यवर्तिणी होकर दोनों को अनुराग रूप पयःपान कराती हुई उनका पोषण करती रहती हैं, इसीलिये इनका प्रतिपादन भगवान् ने गीताजी के मध्यषड्क में किया। माँ स्वतन्त्र रूप में भी रह लेती है तथा बालकों के साथ भी, किन्तु शिशु-पुत्र माँ की उपेक्षा करके कदापि जीवित नहीं रह सकते। यही कारण है कि श्रीगीताजी में भक्ति का स्वतन्त्र प्रतिपादन होने पर भी ज्ञान एवं कर्म के साथ इनका उपबृंहण किया है जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण ने।

यहाँ यह जिज्ञासा की जा सकती है कि यदि गीताशास्त्र का पर्यवसान भक्ति में है तो फिर इसे भगवान् ने धर्म्यं संवादम् (भ०गी० १८.७०) क्यों कहा? तथा श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः (भ०गी० १८.४७) इत्यादि वचनों से अर्जुन को स्वधर्म-पालन के लिये ही क्यों प्रेरित किया? इस प्रश्न का समाधान तीन दृष्टियों से किया जा रहा है –

(१) संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने (रा०च०मा० १.६.२) अर्थात् जब तक लोकधर्मों का अनुभव नहीं होगा, तब तक उनमें हेयबुद्धि नहीं होगी और लोकधर्म के प्रति हेयबुद्धि के बिना भागवतधर्म में प्रवृत्ति संभव ही नहीं हैं। एतदर्थ भगवान् ने पहले सर्वधर्म की व्याख्या करके पुनः उनमें हेयबुद्धि का विधान करके अर्जुन को शुद्ध शरणागति का आदेश दिया।

(२) श्रीवल्लभाचार्यजी के मत में भगवद्भजन ही जीव का एकमात्र धर्म है। यथा –

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥

(च०श्लो० १)

इस दृष्टि से भगवान् ने अर्जुन को परमधर्म रूप स्वभजन का ही उपदेश किया। तदङ्गत्वेन अन्य सिद्धान्तों को सिंहावलोकनन्यायेन कहा, यथा मामनुस्मर युध्य च (भ०गी० ८.७), अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् (भ०गी० ९.३३), मन्मना भव (भ०गी० ९.३४), मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६)।

(३) जब तक शास्त्रीय पद्धति से स्व-स्व-वर्णाश्रमानुसार कर्मानुष्ठान नहीं किये जाते, तब

तक जागतिक विषयों से वैराग्य हो ही नहीं पाता, क्योंकि शास्त्रानुसार कर्मानुष्ठान के बिना वैराग्य के प्रतिबन्धक पाप क्षीण नहीं होते। यथा येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् (भ०गी० ७.२८)। जीव में जब तक विषयों के प्रति वैराग्य जागृत नहीं होता, तब तक वह भागवतधर्म में अनुरागवान् नहीं हो सकता। इस तथ्य को गोस्वामीजी ने मानस के अरण्यकाण्ड के श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद प्रकरण में बड़ी ही चातुरी से सुस्पष्ट किया है –

प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥

(रा०च०मा० ३.१६.६-७)

अत एव भगवान् ने अपने धर्म्य-संवाद के निरूपण से अर्जुन को वर्णाश्रमानुसारी धर्म का दिग्दर्शन कराकर पुनः विषय-वैराग्य-मूलक भागवतधर्म में अनुराग-निष्ठा को जागृत करके सबसे अन्त में परमपुरुषार्थ रूप शरणागति का उपदेश किया।

सर्वगुह्यतम में भगवान् का अभिप्राय यह है कि समस्त गीताशास्त्र गुह्य है, यथा य इदं परमं गुह्यं (भ०गी० १८.६८), उसमें भी अन्तरङ्गतर होने से ज्ञान गुह्यतर है इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया (भ०गी० १८.६३), और ज्ञान की अपेक्षा भी भक्ति का स्वरूप अत्यन्त गुह्य है। अतः भगवान् भक्ति को ही पुरुषोत्तमयोग के अन्त में गुह्यतम शब्द से अभिहित करते हैं, यथा इति गुह्यतमं शास्त्रम् (भ०गी० १५.२०)। इस प्रकार पूर्वोक्त गुह्य, गुह्यतर एवं गुह्यतम सिद्धान्तों से भी शरणागति रहस्य अति गोपनीय है, इसीलिये इसे सर्वगुह्यतम की संज्ञा देकर अर्जुन को श्रवणार्थ सावधान करते हैं।

ज्ञानकाण्ड के उपसंहार में जब भगवान् ने यथेच्छसि तथा कुरु (भ०गी० १८.६३) कहकर अर्जुन को विचार की स्वतन्त्रता दी, तत्क्षण पार्थ आश्चर्य एवं भय से स्तम्भित एवं मौन हो गए। यहाँ अर्जुन का यही मूक क्रन्दन था कि प्रभु! क्या शरणागत की कोई स्वतन्त्र इच्छा होती है? ईश्वर के गोप्तृत्ववरण-पर्यन्त शरणागत कदाचित् ननु, न च कर सकता है, किन्तु आत्मनिक्षेप की भूमिका में तो वह अपने समस्त स्व को प्रभु के पादारविन्द में समर्पित कर चुका होता है। मैंने अन्य भ्राताओं से बिना पूछे ही रण-निमन्त्रण के समय आपके द्वारा प्रदीयमान दशकोटि सशस्त्र नारायणी सेना की उपेक्षा कर, एकमात्र निःशस्त्र आपको ही स्वीकारा था। क्या उस समय आपमें मेरा महाविश्वास नहीं सुस्पष्ट हुआ? मैंने जब आरम्भ में ही अपने को धर्मसम्मूढचेताः (भ०गी० २.७) कह दिया फिर भी मुझे उदासीनतापूर्ण वाक्य सुनना पड़ रहा है – यथेच्छसि तथा कुरु (भ०गी० १८.६३)। वस्तुतः प्रियतम यदि इस प्रकार की उदासीनता वर्तता है उस समय प्रेमी को कैसी मर्म-वेदना होती है, इसे तो एक सहृदय ही अनुभव कर सकता है। इस सन्दर्भ में एक मार्मिक प्रसंग द्रष्टव्य है। मथुरागमन

के लिये उद्यत नन्दनन्दन, भगवान् कृष्णचन्द्र के समक्ष आकर भगवती राधारानी अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता को सुस्पष्ट करती बोल पड़ती हैं –

मा याहीत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेन शून्यं वचः
तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वैषाऽप्युदासीनता।
नो जीवामि विना त्वयेति वचनं सम्भाव्यते वा न वा
तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचितं वाक्यं त्वयि प्रस्थिते॥

(वैष्णवाभियुक्तवचन)

ओ मेरे प्राणधन! यदि मैं कह दूँ कि आप मथुरा न जाएँ तब तो बहुत बड़ा अमङ्गल हो जाएगा, क्योंकि मथुरा-गमन बिना आततायियों का वध संभव नहीं। यदि कहूँ कि हे सखे! चले जाओ तो क्या यह वचन स्नेहशून्य नहीं प्रतीत होगा? क्या कोई प्रेमी अपने प्रेमास्पद को क्षणभर के लिये भी अपने से दूर करना स्वीकार करेगा? प्रेमी तो अपने प्रेमास्पद को सतत अपने नयनों में छिपा रखने की ही आकाङ्क्षा रखता है, यथा –

मेरे प्रियतम आइ जा इन आखिन भरि लेउँ।
मैं नहीं देखउँ और को तुमहि न देखन देउँ॥

श्यामसुन्दर! रुक जाओ यदि मैं ऐसा कहूँ तो यह कथन आपके प्रति मेरी प्रभुता का सूचक बन जाएगा, जो मुझ दासी के लिये उचित नहीं है। यदि कहूँ कि जैसी रुचि हो वैसा करें तो यह आपके प्रति मेरी उदासीनता होगी, क्योंकि प्रेमास्पद पर तो प्रेमी की ही रुचि का बोल-बाला होता है। पुनः यदि कहूँ कि आपके बिना मैं न जी सकूँगी तो यह वचन संभव हो पाएगा या नहीं यह निश्चय कौन कर सकता है? इसलिये आप ही कृपा कर मुझे स्वयं बताइये कि आपके प्रस्थान-काल में मैं आपसे क्या कहूँ। उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त यथारुचि कुरुष्वैषाऽप्युदासीनता की ही भाँति अर्जुन को भी अपने प्रति अपने प्रेमास्पद की उदासीनता की आशङ्का होने लगी। अर्जुन कुछ न बोल सके। प्रभु का यह रूखापन अर्जुन को अनेकानेक अतर्कित आशङ्काओं से समाकुल करने लगा। वे सोचने लगे क्या मेरी शरणागति में अभी भी कोई त्रुटि रह गई है, जिससे मेरे प्रभु मेरे प्रति इस प्रकार उदासीन-से दिख रहे हैं? अब पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण का वात्सल्य-सागर पूर्णतः उमड़ पड़ा और वे अर्जुनरूप बछड़े की बुभुक्षा को शान्त करनेके लिये सर्वगुह्यतम शरणागतिरहस्य रूप मङ्गलमय क्षीर की धारा प्रवाहित करते हुए बोले – अर्जुन! तुम मेरे इष्ट हो इसलिये मैं तुम्हारा अनिष्ट कदापि नहीं सोचूँगा और तुम्हारे लिये परम हितकर उपाय ही करूँगा क्योंकि तुमने मुझसे एकोपायता की अभ्यर्थना की थी। यहाँ भगवान् ने वचः पद के लिये दो विशेषणों का प्रयोग किया है –

(१) सर्वगुह्यतमम्
(२) परमम्

मे वचः शृणु (भ०गी० १८.६४)। प्रभु का अभिप्राय है कि यह वाणी सबसे गुह्यतम तथा सबके लिये गुह्यतम है। सर्वेषु गुह्यतमं सर्वगुह्यतमम्। अथ च सर्वेभ्यो गुह्यतमं सर्वगुह्यतमम्। इति समासद्वयम्। यहाँ परमम् शब्द भी साभिप्राय है। परा प्रकृष्टा मा लक्ष्मीर्भक्तिरूपा शान्तिरूपा निःश्रेयसरूपा वा यस्मिन् तत्परमम् । भगवान् कह रहे हैं कि अर्जुन! मेरे इसी सिद्धान्त में तुझे परोत्कृष्ट मा अर्थात् शान्ति, भक्ति किंवा निःश्रेयस आदि समस्त अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो जाएगी, क्योंकि समस्त शास्त्रों का परमतात्पर्य भगवच्छरणागति में ही है। परम अद्वैतवादी, अद्वैतसिद्धिः जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थ के प्रणेता मधुसूदनसरस्वतीपाद भी निष्पक्षपात रूप से इसी तथ्य का समर्थन करते हुए गीताजी की गूढार्थदीपिका टीका में सुस्पष्ट कहते हैं – सर्वेषां तु शास्त्राणां परमं रहस्यमीश्वरशरणतैवेति तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता। तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात् (भ०गी०गू०दी० १८.६६)। अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रों का परम रहस्य भगवान् की शरणागति ही है, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा शरणागति उपदेश पर ही गीताशास्त्र की समाप्ति की गई, क्योंकि परमेश्वर की शरणागति के बिना संन्यास भी अपने फल के पर्यवसान को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् निष्फल रह जाता है। श्रीगीताजी के नवम अध्याय के उत्तरार्ध में तो भगवान् ने परमेश्वर के श्रीचरणारविन्द में सर्वस्व-समर्पण को ही संन्यासयोग माना है, जो प्रकारान्तरेण शरणागति का ही एक प्रभेद है। इस प्रकार सुस्पष्ट हुआ कि संन्यास का भी साध्य प्रभु की शरणागति ही है। श्रीमानसजी के उत्तरकाण्ड में श्रीभुशुण्डिजी अपना मन्तव्य सुस्पष्ट करते हुए इसी सिद्धान्त का मण्डन करते हैं –

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद् बिरक्त संन्यासी॥
जोगी शूर सुतापस ग्यानी। धर्म निरत पंडित बिग्यानी॥
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥
शरन गए मो से अघ राशी। होहिं शुद्ध नमामि अबिनाशी॥

(रा०च०मा० ७.१२४.५-८)

समस्त परिव्राजकों के पूज्य, परमहंसमुकुटमणि, अहर्निश परमनैर्गुण्यनिष्ठ, भगवान् शुकाचार्यजी ने तो यहाँ तक कह दिया कि अहो! इस नीच पूतना ने प्रभु के हनन की इच्छा से प्रेरित होकर नन्हे-मुन्ने नवजात बालकृष्णलाल को स्तन्यपान के व्याज से दुर्विष कालकूट पिला दिया, इतने पर भी प्रभु ने उसे मात्रुचित गति दे दी। ऐसे अकारणकरुण शरणागतिप्रतिपालक प्रभु के अतिरिक्त और किसे शरण के रूप में स्वीकारा जाए। यथा –

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(भा०पु० ३.२.२३)

इस प्रकार समग्र आर्ष सिद्धान्तों की चरम परिणति शरणागति को ही परम तात्पर्य के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए भगवान् जनार्दन दो श्लोकों (भ०गी० १८.६५-६६) में इस रहस्य को सुस्पष्ट करते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(भ०गी० १८.६५)

(१) मन्मना भव – अर्थात् हे पार्थ! तुम मुझमें ही मन लगाओ, जिससे तुम्हारे सभी अन्यथा संकल्प समाप्त हो जाएँगे और सहजतः आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रथम शरणागति सिद्ध हो जाएगी।

(२) मद्भक्तो भव – अर्थात् मेरे भजन से अपने-आप प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् द्वितीय शरणागति निष्पन्न हो जाएगी।

(३) मद्याजी भव – अर्थात् मेरा यजन करो। इससे रक्षिष्यतीति विश्वासः तथा गोप्तृत्ववरणम् ये दोनों शरणागति की विधाएँ पूर्ण हो जाएँगी, क्योंकि मेरे यजन से मुझमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न होगा एवं रक्षकत्व के वरण का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाएगा।

(४) मां नमस्कुरु – अर्थात् मुझको नमस्कार करो। इससे कार्पण्य एवं आत्मनिक्षप ये दोनों शरणागतियाँ सम्पन्न हो जाएँगी। इस प्रकार षड्विधशरणागतिसंपन्न होकर तुम मुझको ही प्राप्त करोगे – मामेवैष्यसि अर्थात् माम् एव एष्यसि। विश्वास करो, मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मुझको बहुत प्रिय हो। कोई भी व्यक्ति अपने प्रिय व्यक्ति के प्रति प्रतारणा नहीं करता, तो भला मैं तुमसे वञ्चना करूँगा? सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। अहो! इस श्लोक में भगवान् ने हम पामर प्राणियों के लिये कितनी सुविधाएँ दी हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में चारों युगों की वृत्तियाँ निवास करती हैं। यथा –

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥

(रा०च०मा० ७.१०४.१)

जिस समय व्यक्ति का मन शुद्ध सत्त्व वाला, समता तथा विज्ञान से पूर्ण एवं निर्विकार हो, उस समय उसमें कृतयुग का निवास जानना चाहिये। जिस समय व्यक्ति के मन में सत्त्वगुण का बाहुल्य एवं कुछ रजोगुण का प्रभाव हो उस समय त्रेतायुग से प्रभावित रहता है। जब रजोगुण बाहुल्य एवं सत्त्वगुण की अल्पता तथा किञ्चित् तमोगुण के प्रभाव से मन की स्थिति तीनों गुणों के मिश्रण में हो उस समय मन द्वापरयुगीन समझा जाता है। जिस काल में तमोगुण की अधिकता एवं रजोगुण की न्यूनता के मध्य में रहकर मन चतुर्दिक् विरोध की परिस्थिति से घिर जाता है, उस समय उसमें कराल कलिकाल का निवास होता है। यथा –

शुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥

(रा०च०मा० ७.१०४.२-५)

इस परिप्रेक्ष्य में भगवान् का यह मन्तव्य है कि जब तुम्हारे मन में कृतयुगी वृत्ति हो अर्थात् समत्वविज्ञानसम्पन्नता हो तब मन्मना भव अर्थात् मुझमें मन लगाकर ध्यान करो। जिस काल में तुम्हारा मन त्रेतायुग से प्रभावित होकर कर्म में रति माने, उस समय मेरा भजन करो, मद्भक्तो भव। जिस समय तुम द्वापर से प्रभावित होकर तीनों गुणों के सम्मिश्रण की परिस्थिति में रहो उस समय मेरा पूजन करो, मद्याजी भव। तथा जिस काल में तुम्हारा मन चतुर्दिक् विरोध से आक्रान्त होकर कराल कलिकाल का कलेवा बनने लग जाए उस समय मुझे नमस्कार करो, मां नमस्कुरु।

इस प्रकार यहाँ उदारचूडामणि भगवान् ने अपने भक्त को चारों युगों के अनुरूप शरणागतिसम्बन्धी क्रियायोग से अवगत कराया। इस श्लोक में प्रभु ने शरणागति की सुलभता एवं स्वकर्म का ही दिग्दर्शन कराया। भगवान् कहते हैं, अर्जुन! मुझमें मन लगाओ। तब अर्जुन ने अन्तःप्रश्न किया – सरकार! आपमें तो कंस, शिशुपाल आदि ने भी मन अहर्निश लगा दिया था। तब उनमें और मुझमें अन्तर क्या रहा? इस पर प्रभु ने कुछ मुस्कुराकर कहा – मद्भक्तो भव। भाव यह है कि कंस, शिशुपाल आदि ने वैरबुद्धि से प्रेरित होकर प्रतिकूलता से मेरा स्मरण किया एवं तुम अनुकूलता से मेरी रूपमाधुरी का मधुर स्मरण करो। अर्जुन ने फिर पूछा कि मुकुन्द! यदि स्मरण करते-करते कदाचित् चञ्चलतावश मेरा मन ऊब जाए तो? तब भगवान् ने कहा – पार्थ! मद्याजी भव अर्थात् उस समय पत्र, पुष्प, फल एवं जल से मेरी पूजा करो। अर्जुन ने पुनः साश्चर्य जिज्ञासा की – माधव! यदि उपर्युक्त पूजा के उपकरण भी न हों तो? प्रभु ने उत्तर दिया – तब मां नमस्कुरु अर्थात् जब पूजा के कुछ भी साधन न हों तब केवल मुझे नमस्कार कर लो। अहो! शरणागति के अतिरिक्त ऐसी सुलभता अन्यत्र कहाँ मिल सकेगी? यहाँ चारों क्रियाओं के द्वारा भगवान् ने सातवें अध्याय में वर्णित चारों प्रकार के भक्तों के कर्तव्यों का भी निर्देश किया। प्रभु का अभिप्राय है – अर्जुन! यदि तुम ज्ञानी हो तो मुझमें मन लगाओ। यदि जिज्ञासु हो तो, मेरा भजन करो, क्योंकि भजन से ही जिज्ञासा शान्त होती है। यदि अर्थार्थी हो तो मेरा यजन करो, क्योंकि मेरे पूजक की सभी कामनाएँ पूर्ण होकर रहती हैं, यथा –

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(भा०पु० २.३.१०)

और यदि तुम आर्त हो तो मुझे नमस्कार करो, क्योंकि मेरा नमस्कार ही जीव की समस्त आर्तियों को समाप्त कर देता है, यथा नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणम् (श्री०स्तो०र० ३०)। इस प्रकार शरणागतयोग से सम्पन्न होकर तुम मुझको भी प्राप्त कर लोगे, यहाँ प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ। इसके अनन्तर प्रभु ने समस्त वैदिक वाङ्मय के परमतात्पर्यभूत परमपुरुषार्थ रूप भगवदनुशरण धर्म का उपदेश किया है जिसे श्रीगीताजी के परम तात्पर्य के रूप में माना जाता है।

कुछ लोग गीताजी का तात्पर्य कर्मयोग में स्वीकारते हैं। पर इस पक्ष में न तो उपक्रमोप-संहारादि प्रमाणों की एकवाक्यता है और न ही शास्त्र की स्वरसता। क्योंकि चरम श्लोक में भगवान् स्पष्ट रूप से सर्वधर्मत्यागपूर्वक अपनी शरणागति के लिये आदेश कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश आज कर्मयोग का अर्थ भी अन्यथा लगाया जाने लगा है, जबकि भगवत्प्रेमरस से सने हुए कर्म को ही सही रूप में कर्मयोग कहते हैं। इस दृष्टि से कर्मयोग भी तो प्रकारान्तर से भगवच्छरणागति का एक अङ्ग ही है।

कुछ लोग परम निःश्रेयस की प्राप्ति को ही श्रीगीताजी का परम तात्पर्य मानते हैं, क्योंकि अर्जुन को बार-बार श्रेयपदार्थ की ही विवित्सा है, यथा यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (भ०गी० २.७) अर्थात् जो कुछ निश्चित् किया हुआ मेरा श्रेय हो वह मुझ कहिये, तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् (भ०गी० ३.२) अर्थात् आप उस एक बात को निश्चय करके कहिये जिससे मेरा श्रेय हो, यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् (भ०गी० ५.१) याने इन दोनों में एक जो निश्चय किया हुआ श्रेयस्कर हो वह मेरे लिये कहिये। पर विचार करने से समग्र श्रेयस्तत्त्व ईश्वर-शरणागति में ही गतार्थ हो जाता है। यथा –

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि शरन न एकउ बाधा॥

(रा०च०मा० ४.१७.१)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(भ०गी० २.४०)

भक्तों ने तो मुक्तिस्पृहा को भी पिशाचिनी कहा है –

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते।
तावत्प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(प०पु०पा०ख० ७७.६३)

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(भ०र०सि० २.२२)

अर्थात् जब तक जीव के हृदय में भुक्ति एवं मुक्ति की स्पृहारूप पिशाचिनी रहती है, तब तक वहाँ प्रेम-सुख या भक्ति-सुख का अभ्युदय किसी भी प्रकार से हो ही नहीं सकता। भैया भरतजी ने भी भक्तिरस की अनुभूति की अपेक्षा वेदान्त-बोध्य परम-पुरुषार्थ-मोक्ष को भी अत्यन्त तुच्छ माना है। यथा –

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन॥

(रा०च०मा० २.२०४)

वेदान्त के चिन्तन से थककर चूर-चूर हुए भ्रान्त-मस्तिष्क, अत्यन्त खिन्न मानस वाले, किन्हीं साधकों को उपदेश करते हुए श्याम-प्रेम-दीवानी व्रजबालाएँ कह पड़ीं – निगम कानन में भटके हुए लोगों! हमारे इस उपदेश का आदर करो, चलो ब्रह्म को ग्वालिनियों के भवनों में ढूंढो। देखो तुम्हारे उपनिषदों का अर्थ परब्रह्म परमात्मा हमारे व्रज में उलूखल में बँधा है। यथा –

वरमिममुपदेशमाद्रियध्वम् निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

(श्री०कृ०क० २.२८)

अस्तु कुछ श्रद्धालु जनों का पक्ष यह भी है कि श्रीगीताजी सद्गुरुशरणागति में ही परम तात्पर्य रखती हैं, क्योंकि अर्जुन ने प्रथम ही अपने को शिष्य रूप में प्रस्तुत किया है तथा अन्त में शिष्य की भाँति करिष्ये वचनं तव (भ०गी० १८.७३) कहकर पूर्ण समर्पण कर दिया, किन्तु यह मान्यता भी अकिञ्चित्कर है, क्योंकि सद्गुरु के प्रति मध्यमपुरुष एकवचन का प्रयोग सर्वथा अनुचित है। यथा एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे। जबकि अर्जुन से इस मर्यादा का बिल्कुल निर्वाह न हो पाया, यथा शिष्यस्तेऽहम् (भ०गी० २.७), त्वां प्रपन्नम् (भ०गी० २.७), बुद्धिं मोहयसीव मे (भ०गी० ३.२) इत्यादि। सम्पूर्ण गीता में प्रभु के प्रति पार्थ ने प्रायशः मध्यमपुरुष एकवचन का ही प्रयोग किया है, क्योंकि उनका प्रभु के प्रति सख्य भाव है, जिसमें त्वम् शब्द का प्रयोग भावमर्यादा के अनुकूल ही है। लोक में भी कोई अपने मित्र को आप कहकर नहीं बुलाता। भगवान् भी उनके सख्यभाव का ही अनुमोदन करते हैं, यथा

भक्तोऽसि मे सखा चेति (भ०गी० ४.३)। उपासना में साधक का संबन्ध तब तक प्रामाणिक नहीं माना जाता, जब तक कि वह परमात्मा से अनुमोदित नहीं होता। श्रीगोस्वामीजी भी विनयपत्रिका में प्रभु श्रीराम से विनय करते हुए यही कह रहे हैं कि प्रभो! मेरे आपके तो बहुत संबन्ध हैं पर जिसे आप अनुमोदित करें उसी को मैं स्वीकारूँ।

तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै॥

(वि०प० ७९.४)

प्रकृत प्रसंग में अर्जुन का सख्य भाव ही सार्वकालिकतया भगवान् के द्वारा अनुमोदित है। उनका शिष्यत्व तत्त्वबुभुत्सा के लिये तात्कालिक परिस्थिति में कुछ क्षणों के लिये आविष्ट हुआ। यद्वा गुरुत्वेनापि यदि परमात्मा को माना जाए, तब भी परम तात्पर्य का पर्यवसान शरणागति में ही होगा क्योंकि बिना शरणागति के सद्गुरुदेव भी ज्ञान नहीं देते। यथा –

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मु०उ० १.२.१२)

भगवान् ने अर्जुन को ईश्वर-शरणागति के लिये ही आदेश दिया है यथा – ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (भ०गी० १८.६१), तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत (भ०गी० १८.६२), मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६)। भगवान् ने सद्गुरुं शरणं व्रज ऐसा कहीं नहीं कहा। अतः यह पक्ष भी निराधार है।

कुछ लोगों के मत में सर्वकर्मसंन्यास ही गीताजी का तात्पर्य है। परन्तु थोड़ा-सा भी विचार करने पर यह मत अत्यन्त सारहीन एवं तथ्यशून्य सिद्ध हो जाता है। शास्त्रों में संन्यास-ग्रहण का अधिकार एकमात्र ब्राह्मण को ही है। यथा परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् (मु०उ० १.२.१२)। अर्जुन क्षत्रिय होने से संन्यास के अधिकारी ही नहीं हैं तो अनधिकारी को भला सर्वज्ञशिरोमणि भगवान् संन्यास का उपदेश क्यों करेंगे? यदि कहा जाए कि अर्जुन के समक्ष भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्य लोगों के हितार्थ संन्यासधर्म का उपदेश किया तो भी यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में उपक्रमोपसंहार की ही रक्षा नहीं हो सकेगी। यह तथ्य पूर्णतया सुस्पष्ट है कि श्रेयस्तत्त्व की जिज्ञासा अर्जुन ने अपने लिये की है – शाधि माम् (भ०गी० २.७) न तु अन्यम्, तन्मे ब्रूहि (भ०गी० ५.१) न तु अन्यस्मै। उपसंहार में तो बहुत ही स्पष्ट रूप में कह रहे हैं करिष्ये वचनं तव (भ०गी० १८.७३)। यदि गीताजी का उपदेश दूसरों के लिए होता तो अर्जुन यहाँ करिष्यामि कहते। कृञ् (डुकृञ् करणे, धा०पा० १४७२) धातु के साथ आत्मनेपद प्रत्यय का प्रयोग उसी समय होता है, जब क्रिया के फल का पूर्णरूपेण भोक्ता कर्ताकारक हो। अतः करिष्ये पद से सुस्पष्ट हो गया कि श्रीगीतोपदेश के पूर्णतया फलभोक्ता अर्जुन ही होंगे। एतदर्थ प्रभु ने अर्जुन की

भिक्षावृत्ति एवं युद्ध से विरति को उनके क्षात्र-धर्म के विरुद्ध कहा, यदि गीतोपदेशक प्रभु को सर्वकर्मसंन्यास ही इष्ट होता तो अर्जुन की बनी-बनाई मनःपरिस्थिति का लाभ क्यों न उठा लेते? उस समय अर्जुन शोकसमाकुल होकर धनुष-बाण फेंक ही चुके थे। युद्ध तो उन्हें निर्वेद हो ही चुका था। भिक्षा जैसी निकृष्ट वृत्ति भी उन्हें श्रेयस्करी लग ही रही थी। भगवान् चाहते तो उसी समय उन्हें संन्यास धर्म में दीक्षित कर सीधे उत्तरारण्य की ओर भेज देते। फिर क्या आवश्यकता थी अर्जुन से कुरुक्षेत्र में शस्त्र उठवाने की? संन्यास धर्म का उपदेशक संन्यासी ही हो सकता है। तो क्या भगवान् कृष्ण को आप संन्यासी मानेंगे? भला जो सोलह सहस्र आठ पत्नियों के वल्लभ हैं तथा जिन्होंने शास्त्रीय विधि से प्रत्येक पत्नी में पतिमेकादशं कृधि (ऋ०वे०सं० १०.८५.४५) इस श्रुति के अनुसार दश-दश पुत्रों को प्रकट करके गार्हस्थ्य धर्म की परम उत्कृष्ट मर्यादा-कीर्ति-वैजयन्ती फहराई है, उन वर्णाश्रमानुसारी, गृहस्थशिरोमणि, परमेश्वर को संन्यासी की दृष्टि से देखना क्या द्रष्टा के दृष्टिकोण का परिणाम नहीं है? जो रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः (भा०पु० १०.९०.४) के नाम से जाने जाते हैं, वे क्या अपने प्रिय सखा अर्जुन को वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध सर्वकर्मसंन्यास का उपदेश करेंगे? कदापि नहीं। अठारहवें अध्याय में अर्जुन के द्वारा संन्यास एवं त्याग का अन्तर पूछे जाने पर भगवान् ने स्वयं अपने मत को सुस्पष्ट करते हुए कहा है –

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

(भ०गी० १८.७)

अर्थात् वर्णाश्रमानुसार नियत कर्मों का संन्यास कथमपि उचित नहीं है। मोहपूर्वक किया हुआ नियत कर्म का त्याग तामस कहलाता है। गीताजी का कर्मत्याग में कदापि अभिनिवेश नहीं है। उनका मन्तव्य तो कर्मफल के त्याग में है जो भगवच्छरणागति के बिना संभव ही नहीं। इस अष्टादश अध्याय की मोक्षसंन्यासयोग संज्ञा भी मुझे अटपटी लगती है। ऐसा लगता है कि गीताजी के अध्यायों का तत्तन्नामनिर्धारण वेदव्यासकृत नहीं अपितु अर्वाचीन है, क्योंकि भिन्न-भिन्न पुस्तकों में तत्तत् अध्यायों के नाम का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। जैसे कुछ मुद्रित संस्करणों में गीताजी के अठारहवें अध्याय का मोक्षसंन्यास-योगः नाम लिखा है, पर कुछ मुद्रित शाङ्करभाष्य संस्करणों में संन्यासयोगः मात्र नाम लिखा है। विश्वनाथ चक्रवर्ती की सुप्रसिद्ध टीका गीतासारार्थवर्षिणी की कुछ मुद्रित प्रतियों में अर्जुनसैन्यदर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः लिखा है, जबकि गीताजी की प्रचलित प्रति में अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः लिखा है। वस्तुतस्तु अठारहवें अध्याय को शरणागतियोगः ही कहना चाहिये। अहो! गीताजी के चरमोपदेश श्लोक में मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६) जैसे परम महावाक्य के रहते हुए भी सर्वकर्मसंन्यास में श्रीगीताजी

का तात्पर्य मानना, निरभ्र गगन में धूलिप्रक्षेप नहीं तो और क्या है? किं बहुना इस मत से स्वयं तत्संप्रदायानुयायी, साक्षात् सरस्वती के अंशावतार श्रीमधुसूदनसरस्वतीपाद भी सहमत नहीं है। यथा – तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणागतिमात्रे तात्पर्यं भगवतः (भ०गी०गू०दी० १८.६६), अर्थात् इसलिये संन्यासधर्मों में भी अनादर उपस्थित करके एकमात्र भगवान् की शरणागति में ही भगवान् का तात्पर्य है। भगवत्पादारविन्द-मकरन्दमत्तमनोमधुप महापुरुष कभी भी पूर्वाग्रहग्रस्त नहीं होते। दुराग्रह को वे बुद्धि का फल नहीं मानते, यथा बुद्धेः फलमनाग्रहः (सु०र०भा०)। परम भागवत महापुरुषों की मनीषा पक्षपातशून्य हुआ करती है। उनका स्पष्ट डिंडिम-घोष रहता है – शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि (सु०र०भा० १६०.३४०)। श्रीमधुसूदनसरस्वतीपाद भी इसी पावन परम्परा के प्रसिद्ध महापुरुष हैं। वे सांप्रदायिक संकीर्णता के दुराग्रह से ग्रस्त होकर शास्त्रमर्यादातिक्रमण को उचित नहीं मानते। अतः अपने ही संप्रदाय-प्रवर्तक आचार्य के सिद्धान्तविवेचन में शास्त्रमर्यादाहानि को देखकर भयभीत मुद्रा में सहमे हुए स्वर से चीख पड़े स्वयं मधुसूदनसरस्वतीपाद – भाष्यकृतस्तु "सर्वधर्मान्परित्यज्येति" सर्वकर्म-संन्यासानुवादेन "मामेकं शरणं व्रजेति" ज्ञाननिष्ठोपसंहृतेत्याहुः। भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः (भ०गी०गू०दी० १८.६६), अर्थात् भाष्यकार भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य तो "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इस उक्ति से "सर्वकर्मसंन्यास" अनुवाद द्वारा "मामेकं शरणं व्रज" इस वाक्य पर ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार है ऐसा कहते हैं, किन्तु भगवान् के अभिप्राय के वर्णन में हम जैसे वराकों की क्या गणना? भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः इस वाक्य में आचार्य मधुसूदन का कितना बड़ा संकोच एवं अन्तर्व्रीडापूर्ण पीड़ा तिरोहित है इसका मूल्याङ्कन तो सुधीजन स्वयं कर लेंगे।

अब हम प्रकृत विषय के अनुसार गीता के साररूप चरम श्लोक पर विचार करेंगे।

सर्वधर्मान् परित्यजय मामेक शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(भ०गी० १८.६६)

भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने उपदेश के विश्राम में सर्वगुह्यतम रहस्य को आदेश मुद्रा में उद्घाटित करते हुए कहते हैं – पार्थ! अब तुम सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर मुझ एक सर्वशरण्य परमेश्वर की शरण में आओ। मैं तुमको समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, अब तुम किसी प्रकार का शोक मत करो। अहो! यह कितना मधुर आश्वासन है गोविन्द का गुडाकेश के प्रति। यहाँ सर्वधर्मान् शब्दखण्ड अपने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोक में प्रयुक्त धर्म शब्द मीमांसा-दर्शन में परिभाषित धर्म के अर्थ में नहीं है, क्योंकि अथातो धर्मजिज्ञासा (मी०सू० १.१.१) इस सूत्र में निर्दिष्ट धर्म श्रुतिवाक्यों की प्रेरणा से वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान का

फल रूप है, जो एक ही है। कहा जा सकता है कि धर्मान् बहुवचन आदरार्थक है पर सर्व शब्द के प्रयोग से ही उसका बहुत्व सुस्पष्ट ही है। अतः सर्वे च ते धर्माः सर्वधर्मास्तान् । यहाँ प्रयुक्त धर्म शब्द न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रयुक्त धर्म शब्द से भी भिन्न है क्योंकि यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वै०सू० १.१.२), अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है वही धर्म है, इस सूत्र में उद्धृत धर्म शब्द एकवचनान्त ही है। अतः गीताजी के चरम श्लोक में कथित धर्म शब्द को कर्म का ही पर्याय मानना चाहिये। श्रीगीताजी में कर्म, धर्म, स्वकर्म, स्वधर्म ये चारों शब्द समानार्थक हैं। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ है वेदविहित स्व-स्व-वर्णाश्रमानुसारी कर्म। अर्जुन ने यहाँ अपने को धर्मसम्मूढचेताः (भ०गी० २.७) कहा था। तब प्रभु ने कहा – यदि धर्म ही तुम्हारे चित्त को सम्मोहित करते हैं, तो तुम उन सबको छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। अर्जुन ने जिज्ञासा की कि भगवन्! उनको छोड़ने से तो पाप लगेंगे? तब प्रभु ने कहा कि मैं उन पापों से भी तुझे मुक्त करवा दूँगा। चिन्ता मत करो। अब यहाँ दो प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं –

(१) नियत कर्म का त्याग तो भगवान् को इष्ट ही नहीं है। यथा नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते (भ०गी० १८.७)। तो फिर अर्जुन को सर्वकर्म के त्याग की आज्ञा किस आधार पर दे रहे हैं?

(२) यदि देहधारी व्यक्ति के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग ही सम्भव नहीं है, जैसा कि भगवान् स्वयं कहते हैं – न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः (भ०गी० १८.११)। तब अर्जुन सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कैसे कर सकेंगे?

इन दोनों प्रश्नों का समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि श्रीगीताजी में प्रयुक्त संन्यास एवं त्याग में दोनों शब्द पारिभाषिक हैं। अठारहवें अध्याय के प्रारम्भ में स्वयं अर्जुन ने संन्यास एवं त्याग के तत्त्व-पार्थक्य की जिज्ञासा की –

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥

(भ०गी० १८.१)

तब भगवान् मधुसूदन ने स्वयं संन्यास एवं त्याग का अन्तर कहा। भगवान् कहते हैं –

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

(भ०गी० १८.२)

अर्थात् ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् (मी०सू०शा०भा० ६.१.१) इत्यादि श्रुतियों से प्रेरित काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं एवं सम्पूर्ण कर्मों के फलों के त्याग को त्याग कहते हैं। अतः यदि भगवान् ने सर्वधर्मान् संन्यस्य कहा होता तब अर्जुन को कर्मत्याग की आज्ञा

होती, पर परित्यज्य पद के प्रयोग से यहाँ पूर्व परिभाषित त्याग का ही तात्पर्य स्वीकारना होगा। अर्थात् सर्वधर्मान् परित्यज्य सम्पूर्णकर्मणां फलानि परित्यज्येति तात्पर्यम् । याने सर्वधर्मान् परित्यज्य का अर्थ है सम्पूर्ण कर्मों के फलों का परित्याग। यहाँ प्रभु के कहने का आशय यह है कि पार्थ! वेदविहित कर्मों का फल तो तुम मुझमें अर्पित करके शरण में आ जाओ। पश्चात् पूर्वकृत एवं अनागत पापों से तुझे मैं मुक्त कर दूँगा। भगवान् रामानुजाचार्य का भी अभिप्राय इसी प्रकार का है। प्रभु कह रहे हैं – पार्थ! संपूर्ण कर्मों को करते हुए फलत्वेन उन सबका परित्याग करो जो कर्तृत्व के विस्मरण से ही संभव है। इस पद्धति का निर्देश भगवान् स्वयं चतुर्थ अध्याय के १७वें तथा १८वें श्लोक में कर चुके हैं। अभिप्राय यह है कि कर्म में ही अकर्म का दर्शन अर्थात् फलाकाङ्क्षा की शून्यता ही सर्वकर्म का परित्याग है। सर्वकर्माणि कुर्वाणस्तेषु फलाभिसन्धिं परित्यज्य अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को करते हुए उनमें वर्तमान फल की इच्छा छोड़कर शरणागत हो जाओ। यद्वा सर्वेषां स्त्रीपुत्रबन्धुगुरुप्रभृति-कुटुम्बानां धर्माः कर्तव्यानि तान् परित्यज्यैकं मां शरणं व्रज। भगवान् के कहने का आशय है कि तुम सभी – स्त्री, पुत्र, गुरु, बन्धु आदि – के धर्मों की चिन्ता कर रहे हो जिसका दिग्दर्शन तुमने प्रथम अध्याय के अन्त में कुल के विनाश-वर्णन-संदर्भ से कराया। तुम अन्य लोगों के धर्मों के विषय में व्यर्थ चिन्ता कर रहे हो, जबकि स्वधर्मरूप भगवच्छरणागति, जो जीव का एकमात्र धर्म है, उसको स्वीकार नहीं कर रहे हो। यद्वा सर्वान् कुटुम्बिन आश्रयन्त इति सर्वाश्रयाः सर्वाश्रयाश्च ते धर्माश्चेति सर्वधर्माः शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः। अर्थात् समस्त कुटुम्बियों के आश्रय रूप धर्म अर्थात् कर्तव्यों को सर्वधर्म कहते हैं। यहाँ शाकपार्थिवादिगण में सर्वधर्म शब्द को आकृतिगणत्वेन स्वीकार करके आश्रय पद का लोप होने से मध्यमपदलोपिसमास हुआ। जिस समय जीव जगत् में जन्म लेता है, उसी समय से अनेकानेक सम्बन्धी जुट जाते हैं, एवं उनके प्रति कोई-न-कोई कर्तव्य जीव के लिये अवश्य करणीय बन जाता है। पयःपान कराने से माँ के प्रति, पालन करने से पिता के प्रति, प्रजाजनन से पत्नी के प्रति, इसी प्रकार अन्यान्य हेतुओं से जीव का रोम-रोम तत्तत् सम्बन्धियों के प्रति ऋणी एवं उत्तरदायी बन जाता है। इन्हीं के भरण-पोषण एवं अपने कर्तव्य-पालन में दिवानिश व्यस्त मानव को अपने प्यारे प्रभु के स्मरण का क्षणभर भी समय नहीं मिलता। कभी माँ की सेवा तो कभी पिता की, कभी पत्नी के प्रति आकर्षण तो कभी पुत्र के साथ मनोरञ्जन। इस प्रकार अनेक गृहकर्मों से उत्पीड़ित मनुष्य पूर्णतया अशान्त हो जाता है। सम्बन्धी एवं उनके प्रति कर्तव्य बहुतेरे, तथा करने वाला एक एवं उसकी क्षमता सीमित, अतः वह क्या करे? अन्ततोगत्वा तो उसके जीवन में असफलता एवं नैराश्य का ही साम्राज्य होता है। संसार ने किसे कब सुख दिया है? यह तो सरकने वाला तथा निरन्तर सड़ने वाला है। यहाँ तो श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की यही पङ्क्ति समझ में आती

है कि –

सुत बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही ते।
अंतहु तोहिं तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते।

(वि०प० १९८.३)

जीव की इसी विडम्बना पर द्रवित होकर भगवान् आनन्दकन्द, मुकुन्द, व्रजेन्द्रनन्दन, गोविन्द, श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन को आदेश देते हुए कहा कि अब तुम इन कुटुम्बियों के प्रति निर्धारित कर्तव्यों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। कृष्णा एवं सुभद्रा के प्रति तुम्हारा क्या दायित्व है, उन्हीं के प्रति तुम्हें कैसे बरतना चाहिये, युधिष्ठिरादि के प्रति तुम्हें क्या करणीय है, द्रोण एवं भीष्म के प्रति कैसा बर्ताव किया जाए इन समस्त धर्मसम्बन्धी विचारों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। अर्थात् जगत् के समस्त सम्बन्धियों की प्रीति को मुझसे ही जोड़ दो। जैसे मानस में लक्ष्मणजी ने सर्वजागतिक प्रीति को परमात्मा भगवान् श्रीराम के चरणों में ही जोड़ दिया। यथा –

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

(रा०च०मा० २.७२.५-६)

अर्जुन ने अन्तःप्रश्न किया – सरकार! कुटुम्ब के कर्तव्यों की उपेक्षा से पाप तो नहीं होंगे? क्योंकि शरीर के संवर्धन में जिन्होंने सहयोग दिया है, उनके प्रति मेरा भी तो यत्किञ्चित् दायित्व है। प्रभु ने सस्मित मुद्रा में उत्तर दिया – मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, क्योंकि मेरी सेवा में ही उनकी सेवा गतार्थ हो जाएगी। जैसे मूल के सिञ्चन से वृक्ष के सब अवयव अपने-आप हरे-भरे हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार परमात्मा को रिझा लेने के अनन्तर संसार के सभी सम्बन्धी स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं, यथा राम सोहाते तोहिं जौ तू सबहिं सोहातो (वि०प० १५१.४)। कोई कितना ही परिश्रम करे पर वह वृक्ष के प्रत्येक पत्र एवं शाखा का सिञ्चन नहीं कर सकता है। यदि कदाचित् कर भी ले तो उनके सिञ्चन से आमूल वृक्ष हरा नहीं हो सकता। उसी प्रकार संसार के सम्बन्धियों के अनुरञ्जन से प्रभु की प्रसन्नता संभव नहीं है। इसलिये इन सबके कर्तव्यों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। मैं तुझको पापों से छुड़ा दूँगा अर्थात् तुम्हारे साथ इनका भी पालन करूँगा। श्रीमानस में महर्षि भारद्वाज भी कहते हैं –

यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत कुटुंब पाल रघुराई॥

(रा०च०मा० २.२०८.७)

भगवच्चरणारविन्द की शरणागति में सभी लौकिक एवं वैदिक कर्म छूट ही जाते हैं। वल्लभा अपने प्रियतम से मिलने के लिये एकाकिनी ही आती है, न कि अपनी सखियों के साथ।

लहराती हुई रिङ्गतुङ्गतरङ्गा गङ्गा अकेली ही सागर से संगत होती है। अतः पार्थ अपने सम्पूर्ण कर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। कहाँ छोड़ूँ प्रभु? तब भगवान् कहते हैं मयि याने मुझमें ही अर्पित करके। यथा – चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः (भ०गी० १८.५७)। यद्वा कर्मों को कहीं भी छोड़के। अर्थात् मेरी शरण में आते समय किसी कर्म का चिन्तन ही न करो।

अकेले आने में यदि मुझे भय लगे तो? प्रभु ने कहा, भय नहीं लगेगा क्योंकि द्वितीय से भय होता है – मैं तो एक हूँ अर्थात् अद्वितीय हूँ। अतः भय का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये सर्वधर्मान् याने जातिधर्म, कुलधर्म, वर्णाश्रमधर्म, देहधर्म, दैहिकधर्म, पुत्रधर्म, पितृधर्म, वीरधर्म, मातृधर्म, मनोधर्म, बुद्धिधर्म, अहंधर्म, चित्तधर्म एवं लोकधर्म – इन सबको छोड़कर अर्थात् सबमें अनासक्त बुद्धि से मेरी शरण में आओ। यहाँ यह ध्यान रहे कि भगवान् की यह उक्ति विशेषधर्म के अभिप्राय से है। सामान्यधर्म के उपदेश में तो कर्मण्येवाधिकारस्ते (भ०गी० २.४७) इसी उक्ति के अनुसार निष्काम कर्म करते रहना चाहिये। यहाँ व्रज क्रियापद आव्रज के अर्थ में है। आङ् उपसर्ग का विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपो वक्तव्यः (वा० ५.३.८३) इस वार्त्तिक से लोप हो गया है। भगवच्छरणागति में लोकधर्म परम बाधक है। इसलिये श्रीभरतभद्रजू ने तीर्थराज प्रयाग से अभ्यर्थना करते हुए धर्म त्याग की घोषण की –

माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू॥

(रा०च०मा० २.२०४.७)

शरणागत अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थ भी ठुकरा देता है। भरतभद्र ने निज धर्म से जातिधर्म, कुलधर्म तथा संप्रदायधर्म छोड़ने की बात कही। जातिधर्म के अनुसार क्षत्रिय भीख नहीं माँगता पर उसको भी छोड़कर माँगउँ भीख। कुलधर्म के अनुसार इसी प्रयाग में मेरे कुल की दो-दो बेटियाँ गङ्गा और यमुना विराज रही हैं पर कुलधर्म को छोड़कर बेटियों से ही भीख माँग रहा हूँ। गङ्गा-यमुना का संगम ही तो प्रयाग है। इस प्रकार कुलधर्म को छोड़कर माँगउँ भीख। संप्रदाय धर्म के अनुसार भी वैष्णव को भीख नहीं माँगना चाहिये, यथा –

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
यो वै विश्वम्भरः भक्तान् स कथं समुपेक्षते॥

(वैष्णवाभियुक्तवचन)

अर्थात् वैष्णवजन भोजन एवं वस्त्र की चिन्ता व्यर्थ ही करते हैं, जो प्रभु विश्व के भरण-पोषण में तत्पर रहते हैं, क्या वे अपने भक्तों की उपेक्षा करेंगे? इसलिये यहाँ सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत् की दृष्टि से भगवद्भजन में यावन्मात्र बाधक धर्म हों उनका सबका परित्याग कर देना चाहिये, जैसा कि शबरी-प्रसंग में मानसकार भी कहते हैं –

नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत शोकप्रद सब त्यागहू।
बिश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू॥

(रा०च०मा० ३.३८.१४)

अर्जुन ने अन्तर्जिज्ञासा की कि मदनमोहन! क्या इसके पहले और किसी ने सर्वधर्मों को छोड़कर आपकी शरण स्वीकारी है? इसके उत्तर में भगवान् नटनागर बड़ी ही सांकेतिक क्रिया का प्रयोग कर रहे हैं मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६)। व्रज इवाऽचरन्मामेकं शरणं व्रज। यहाँ व्रज शब्द व्रजवनिता अर्थ में उपलक्षण है। पुनः इसी व्रज शब्द से सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वा वक्तव्यः (वा० ३.१.११) इस वार्त्तिक से व्रज इवाऽचर इस विग्रह में आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय करके सर्वापहारी लोप के पश्चात् सनाद्यन्ता धातवः (पा०सू० ३.१.३२) सूत्र से पाणिनीय धातुसंज्ञा करके लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में व्रज यह पद निष्पन्न हुआ। शरणं व्रज अर्थात् व्रज इव व्रज। तात्पर्य यह कि जैसे व्रजवनिताएँ मेरे मुरली-निनाद को सुनकर ही सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में चली आईं यथा –

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥

(भा०पु० १०.२९.५)

वंशीध्वनि सुनकर जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं, वे अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर चल पड़ीं। जो चूल्हे पर दूध औंटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर और जो लपसी पका रही थीं, वे पकी हुई लपसी बिना उतारे ही ज्यों-की-त्यों छोड़कर चल दीं।

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥

(भा०पु० १०.२९.६)

जो भोजन परस रही थीं वे परसना छोड़कर, जो छोटे-छोटे बच्चों को दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियों की सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं, वे भोजन करना छोड़कर अपने अपने कृष्ण प्यारे के पास चल पड़ीं।

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः॥

(भा०पु० १०.२९.७)

कोई-कोई गोपियाँ अपने शरीर में अङ्गराग चन्दन और उबटन लगा रही थीं और कुछ आँखों में अञ्जन लगा रही थीं, वे उन्हें छोड़कर तथा उलटे-पुलटे वस्त्र धारण कर श्रीकृष्ण के पास पहुँचने के लिये चल पड़ीं।

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥

(भा०पु० १०.२९.८)

पिता और पतियों ने, भाई और जाति-बन्धुओं ने उन्हें रोका, उनकी मङ्गलमयी प्रेमयात्रा में विघ्न डाला, परन्तु वे इतनी मोहित हो गई थीं कि रोकने पर भी न रुकीं, न रुक सकीं। रुकतीं कैसे? विश्वमोहन श्रीकृष्ण ने उनके प्राण, मन और आत्मा सब कुछ का अपहरण जो कर लिया था। अर्थात् व्रजवनिताएँ मुरलीगीत सुनकर गोदोहरूप जातिधर्म, संजावन रूप गृहधर्म, परिवेषण रूप नारीधर्म, शिशुओं का पयःपान रूप मातृधर्म, पतिशुश्रूषा रूप पत्नीधर्म, भोजन रूप शरीरधर्म, मार्जनलेपनादि रूप गृहिणीधर्म, वस्त्रों के उलट-फेर करने से लज्जाधर्म को छोड़कर मेरी शरण में चली आईं एवं उनको मैंने उद्धवादि से भी वन्दिता एवं त्रिलोकभक्तिशिरोमणि बना दिया। उसी प्रकार तुम भी मेरी गीता को सुनकर सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ, एकमात्र मुझको ही आश्रय रूप में स्वीकार लो। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। अब शोक मत करो। इस प्रकार सकल शास्त्रार्थवेत्ता प्रभु ने शोकनिवृत्ति को ही शरणागतिमूलक सिद्ध करके, अन्त में अर्जुन को शरणागति के लिये ही आदिष्ट किया। एवं यहीं पर ग्रन्थ की समाप्ति करके शरणागति श्रीगीताजी का परम तात्पर्य निश्चित कर दिया। अर्जुन अपने संकल्प-वाक्य में इसी वचन के पालन की प्रतिज्ञा करते हुए बोले –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(भ०गी० १८.७३)

यह वाक्य बड़ा ही सारगर्भित है। अर्जुन कहते हैं कि प्रभु! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया एवं मुझे सेवक-सेव्य-भाव रूप स्मृति प्राप्त हुई, अब मैं संदेहमुक्त होकर अपनी जीवात्म-सत्ता में स्थित हूँ। अतः आपने जो मामेकं शरणं व्रज (भ०गी० १८.६६) वचन कहा है, मैं उसका यावज्जीवन पालन करूँगा। याने आज से मैं सदा के लिये आपके श्रीभगवच्चरणार-विन्द की ही शरण में रहूँगा। इस प्रकार शरण्य एवं शरणागत की संबन्धनिबन्धना एकता के निरूपण में ही श्रीमद्गीताशास्त्र सम्पन्न हुआ। अतः श्रीमद्भगवद्गीता का परम तात्पर्य शरणागति में ही समझकर सुधीजन प्रभु की शरणागति सुधा से ही अपनी सार्वकालिक क्षुधा को मिटाएँ।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥
॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

उपसंहार श्लोक

गीतातात्पर्यमेतन्मधुमथनहरेः पादपद्मप्रपत्तौ
निर्णीतं सप्रमाणं विविधविधिलसद्युक्तियुक्तं सतर्कम्।
सीताजानिप्रसादात्प्रभुपदनिरताः सादरं सम्प्रधार्य
भूयासुर्भव्यभावा भगवति च हरौ सर्वभावप्रपन्नाः॥
कौशल्यास्तन्यपानोत्कः कुन्दकोषसमद्विजः।
नीलकञ्जसमश्यामो राघवः शरणं मम॥
कृष्णौ कृष्णाब्दसङ्काशौ कृष्णायामोदवर्धनौ।
कृष्णाभिवन्द्यौ राजेतां स्वान्ते मे रथिसारथी॥
गीताकृपास्निग्धसमिद्धशक्तिर्गीतासमालोकनलब्धबोधः।
गीतागुरुप्रेरणयैव गीतातात्पर्यमेतद्विततान दासः॥
॥ श्रीरामः शरणं मम ॥
॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सङ्केताक्षरसूची

अ०को०	अमरकोष
अ०स०म०रा०स्तो०	अहिर्बुध्न्यसंहिता मन्त्रराजस्तोत्र
ई०उ०	ईशावास्योपनिषद्
उ०नी०म०	उज्ज्वलनीलमणि (रूपगोस्वामिकृत)
ऋ०वे०सं०	ऋग्वेदसंहिता
ऋ०वे०सं०सा०भा०उ०प्र०	ऋग्वेदसंहिता सायणभाष्य उपोद्घातप्रकरण
क०	कवितावली (गोस्वामितुलसीदासकृत)
क०उ०	कठोपनिषद्
क०पु०	कल्किपुराण
का०मी०	काव्यमीमांसा
कु०म०त०	कुब्जिकामततन्त्र
कृ०अ०	कृष्णाष्टक (वल्लभाचार्यकृत)
कृ०य०तै०सं०	कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिता
गी०	गीतावली
च०श्लो०	चतुःश्लोकी (वल्लभाचार्यकृत)
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषद्
त०सं०	तर्कसंग्रह
द०वि०हे०नि०	दशविधहेतुनिरूपण
दो०	दोहावली
धा०पा०	धातुपाठ
ना०पु०	नारद पुराण
ना०भ०सू०	नारदभक्तिसूत्र
नै०च०	नैषधीयचरित

प०त०	पञ्चतन्त्र
प०पु०उ०ख०	पद्मपुराण उत्तरखण्ड
प०पु०पा०ख०	पद्मपुराण पातालखण्ड
पा०सू०	पाणिनीय सूत्र (अष्टाध्यायी)
प्रे०प०	प्रेमपत्तन (यदुपतिभट्टकृत)
बि०स०	बिहारी सतसई
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र०पु०उ०ख०ल०	ब्रह्माण्डपुराण उत्तरखण्ड ललितोपाख्यान
ब्र०बि०उ०	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
भ०गी०	भगवद्गीता
भ०गी०गू०दी०	भगवद्गीता गूढार्थदीपिका
भ०गी०रा०भा०	भगवद्गीता रामानुजभाष्य
भ०गी०रा०भा०टि०	भगवद्गीता रामानुजभाष्य टिप्पणी
भ०गी०शा०भा०	भगवद्गीता शाङ्करभाष्य
भ०मा०	भक्तमाल (नाभादासकृत)
भ०र०सि०	भक्तिरसामृतसिन्धु
भा०पा०सू०	महाभाष्य पाणिनीय सूत्र
भा०पु०	भागवतपुराण
भा०पु०श्री०टी०	भागवतपुराण श्रीधरस्वामी टीका
म०पु०	मत्स्यपुराण
म०भा०	महाभारत
मी०सू०	मीमांसासूत्र
मी०सू०शा०भा०	मीमांसासूत्र शाबरभाष्य
मु०उ०	मुण्डकोपनिषद्
यो०सू०	योगसूत्र
र०वं०	रघुवंश
रा०च०मा०	रामचरितमानस
रा०र०स्तो०	रामरक्षास्तोत्र
ल०सि०कौ०भै०टी०	लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमी टीका (भीमसेनशास्त्रीकृत)
व०स्मृ०	वसिष्ठस्मृति
वा०	वार्त्तिक (कात्यायनकृत)

वा०रा०	वाल्मीकीयरामायण
वि०ध्या०	विष्णुध्यान
वि०प०	विनयपत्रिका
वे०सं०	वेणीसंहार
वै०त०सा०गी०मा०	वैष्णवीयतन्त्रसार गीतामाहात्म्य
वै०प०	वैराग्यपञ्चक (वेदान्तदेशिककृत)
वै०म०भा०	वैष्णवमताब्जभास्कर
वै०सं०	वैराग्यसंदीपनी
वै०सि०कौ०	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
वै०सू०	वैशेषिकसूत्र
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा०प०नी०	शार्ङ्गधर पद्धति नीतिपद्धति (सुभाषितरत्नभाण्डागार)
शि०अ०	शिक्षाष्टक
शु०य०का०सं.०	शुक्लयजुर्वेद काण्वसंहिता
शु०य०मा०सं०	शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिनसंहिता
श्री०कृ०क०	श्रीकृष्णकर्णामृत (बिल्वमङ्गलकृत)
श्री०रा०सु०	श्रीराधासुधा (करपात्रस्वामिकृत)
श्री०स्तो०र०	श्रीस्तोत्ररत्न (आलवन्दारस्तोत्र)
श्वे०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सां०का०	साङ्ख्यकारिका
सु०र०भा०	सुभाषितरत्नभाण्डागार
स्क०पु०उ०ख०गु०गी०	स्कन्दपुराण उत्तरखण्ड गुरुगीता
स्क०पु०मा०कौ०	स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड कौमारिकाखण्ड

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य **स्वामी रामभद्राचार्य** भारत के प्रख्यात विद्वान्, शिक्षाविद्, बहुभाषाविद्, महाकवि, भाष्यकार, दार्शनिक, रचनाकार, संगीतकार, प्रवचनकार, कथाकार, व धर्मगुरु हैं। वे चित्रकूट-स्थित **श्रीतुलसीपीठ** के संस्थापक एवं अध्यक्ष और **जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलाङ्ग विश्वविद्यालय** के संस्थापक एवं आजीवन कुलाधिपति हैं। स्वामी रामभद्राचार्य दो मास की आयु से प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी २२ भाषाओं के ज्ञाता, अनेक भाषाओं में आशुकवि, और शताधिक ग्रन्थों के रचयिता हैं। उनकी रचनाओं में चार महाकाव्य (दो संस्कृत और दो हिन्दी में), रामचरितमानस पर हिन्दी टीका, अष्टाध्यायी पर गद्य और पद्यमें संस्कृत वृत्तियाँ, और प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, और प्रधान उपनिषदों) पर संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रमुख हैं। वे तुलसीदास पर भारत के मूर्धन्य विशेषज्ञों में गिने जाते हैं और रामचरितमानस के एक प्रामाणिक संस्करण के संपादक हैं।

श्रीगीतातात्पर्य नामक हिन्दी निबन्ध का प्रणयन स्वामी रामभद्राचार्य ने अगस्त १९८५ में किया था, जब वे **रामभद्रदास** नाम से विख्यात थे। १९८५ में प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण को जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी शिवरामाचार्य, जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वर शरणदेवाचार्य, जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती, गङ्गादास महाराज, रामचरणदास फलाहारी महाराज, और आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी की प्रशस्ति प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत पुस्तक **श्रीगीतातात्पर्य** का दूसरा संस्करण है।

श्रीगीतातात्पर्य तीन उन्मेषों में निबद्ध है। ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष में तात्पर्य-निर्णय में मीमांसकों द्वारा अनुमत छः लिङ्गों (उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, और उपपत्ति) के माध्यम से शरणागति को भगवद्गीता का तात्पर्य दर्शाया गया है। द्वितीय उन्मेष में शरणागति को भगवद्गीता के सभी अष्टादश अध्यायों का तात्पर्य दर्शाया गया है। तृतीय उन्मेष में विभिन्न दार्शनिकों, राजनेताओं, और साधु-सन्तों द्वारा प्रस्तुत भगवद्गीता के तात्पर्य की समीक्षा प्रस्तुत है।

श्रीतुलसीपीठ सेवा न्यास
आमोदवन, पोस्ट नया गाँव
चित्रकूट, सतना, मध्य प्रदेश, भारत
www.jagadgururambhadracharya.org